

**TEXT PROBLEM
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182624

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81

Accession No. H 401

Author V 82 V
विद्यावती

Title अक्षर

This book should be returned on or before the date last marked below.

विश्वेश्वरानन्द संस्थान प्रकाशन—४० (क)

Vishveshvaranand Institute Publication—40 (A)

सर्वदानन्द विश्व ग्रन्थमाला

SARVADANAND UNIVERSAL SERIES

ग्रन्थ ७

Volume 7



१६६२

1962



अधिसम्पादक—

विश्वबन्धु



प्रकाशक :

विश्वेश्वरानन्द-वैदिक शोध-संस्थान,

साधु आश्रम, होशिआरपुर (पंजाब, भारत)



स. वि. ग्रन्थमाला—७ (क)

वेद-सार

मूल मन्त्र व हिन्दी अनुवाद

वैदिक साहित्य-प्रवेशिनी भूमिका एवं व्याकरण, स्वर तथा
छन्दसम्बन्धी निर्देशों, पदकोष, सूक्तिमाला आदि सहित

विश्वबन्धु

- सर्वाधिकार सुरक्षित
- प्रथम संस्करण १९५१
- द्वितीय (शैक्षणिक) संस्करण १९६२
- मूल्य ३.०० रु.



- प्रकाशक तथा मुद्रक—

श्री देवदत्त शास्त्री विद्याभास्कर,
 वि. वैदिक शोध-संस्थान प्रैस,
 साधुआश्रम, होशिआरपुर (पंजाब),

[भारत]

प्रस्तावना

१. माला-नायक का परिचय—

श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज का जन्म पंजाब के होशिआरपुर नगर के समीपवर्ती बड़ीबसी नाम के उपनगर के एक प्रसिद्ध वैद्यों और विद्वानों के कुल में सं० १९१६ में हुआ था। आपकी आरम्भिक शिक्षा अपने यहाँ से बारह कोस पर हरियाना उपनगर में हुई थी। आरम्भ से ही आपके अन्दर धार्मिक रुचि और साधु-सन्तों के सत्संग में प्रीति पाई जाती थी। इसी कारण जब गृहस्थ हो जाने के कुछ समय पीछे आपकी गृहिणी का देहान्त हो गया, तो आप घर से निकल कर विरक्त अवस्था में विचरने लग गए। सं० १९५३ के लगभग आपके अन्दर श्री स्वामी दयानन्दकृत सत्यार्थ-प्रकाश के पाठ द्वारा लोकसेवा का तीव्र भाव जाग उठा। तभी से आपने स्थिरमति होकर, सद्बिचार और निष्काम-कर्म के सुन्दर, समन्वित मार्ग को धारण किया और सं० १९९९ में निर्वाण-पद की प्राप्ति तक, अर्थात् ४६ वर्ष बराबर, उसका निर्वहन किया। आप पवित्रता व सरलता की मूर्ति, राग-द्वेष से विमुक्त दरिद्रनारायण के उपासक और खरी-खरी अनुभव की बातें सुनाने वाले सदा-हँस परम-हँस थे। आप सदा सभी के बनकर रहे और कभी किसी दल-बंदी में नहीं पड़े।

२. माला का इतिहास और क्षेत्र—

श्री स्वामी जी महाराज श्री विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के आदिम पुण्यनिक्षेपधारी तथा कार्यकारी सदस्यों में से थे और

आपने आजीवन इसे अपने आशीर्वाद का पात्र बनाए रखा। आपका देहान्त हो जाने पर संस्थान ने यह निश्चय किया कि एक स्थिर साहित्य विभाग के रूप में आपका स्मारक स्थापित किया जावे, जो सरल, स्थायी, सार्वजनिक साहित्य प्रकाशित करे और उसके द्वारा, आपके जीवन के ऊँचे और व्यापक आदर्शों को स्मरण कराता हुआ, जनता-जनार्दन की सेवा में लगा रहे। इस पवित्र कार्य के लिए जनता ने साठ हजार रुपये से ऊपर प्रदान करते हुए अपनी श्रद्धा प्रकट की। परन्तु यह कार्य यहाँ तक पहुँचा ही था, कि हमारा प्रदेश पाकिस्तानी आग की लपेट में आ गया और सारी भारत-मातृक जनता के साथ ही संस्थान को भी लाहौर छोड़ना पड़ा। साथ ही, इसे कई लाख रुपये की भारी हानि भी सहनी पड़ी। तत्पश्चात् जब तीन-चार वर्ष के घोर परिश्रम के फलस्वरूप यह किसी प्रकार अपने पाँच पुनः जमा पाया और अपना मुद्रणालय स्थापित करने में सफल हुआ, तो इसने सं० २००७ से उक्त संकल्पित स्मारक के रूप में 'श्री स्वामी सर्वदानन्द सार्वजनिक साहित्य विभाग' चालू करते हुए उसकी ओर से प्रस्तुत 'सर्वदानन्द-विश्व-ग्रन्थमाला' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। इस माला में इन बारह-बरसों के भीतर लगभग १,५०,००० रुपये की लागत से ४१ ग्रंथ निकल चुके हैं, जिनकी कुल पृष्ठ-संख्या ९००० है।

विश्व-भर के विश्व-विध विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला और अनुभव के आधार पर रचे जा रहे ग्रंथों की इस माला के प्रकाशन-कार्य का क्षेत्र अति-विशाल रखा गया है। इन प्रकाशनों की मुख्य भाषा हिन्दी है, और इनका मुख्य आधार भारतीय संस्कृति और साहित्य है। इनमें अपने पूर्वजों की दाय-रूप सामग्री की व्याख्याओं के साथ ही साथ नई रचनाओं

का तथा देश, विदेश की उत्तम रचनाओं के उत्तम अनुवादों आदि का भी विशेष रूप से समावेश किया जा रहा है।

३. उपस्थित ग्रन्थ—

वैदिक साहित्य हमारी सभ्यता और संस्कृति का अनादि स्रोत है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद उस साहित्य के मूल ग्रन्थ हैं; जिनके 'शाखा' कहलाने वाले कई-एक कुछ-कुछ विभिन्न 'पाठ' मिलते हैं। इन शाखाओं में से ऋग्वेद की शाकल शाखा, यजुर्वेद की माध्यन्दिन-शाखा, सामवेद की कौथुम-शाखा और अथर्ववेद की शौनक-शाखा, विशेष करके, अपने-अपने संबन्धित वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। उपस्थित ग्रंथ उक्त चारों वेदों के ही अन्दर से लिए गए, व्यक्ति और समाज के जीवन को समुन्नत करने वाली शिक्षाओं और प्रेरणाओं से भरे हुए कुछ उत्तम मन्त्रों के संग्रह और अनुवाद के रूप में है। इसे (१) साध्य-खण्ड, (२) साधन-खण्ड और (३) सिद्धि-खण्ड नामक तीन भागों में अलग-अलग प्रकाशित किया जा रहा है। इनमें से अभी साध्य-खण्ड ही प्रस्तुत हो पाया है। इसमें मुख्यतः उन मन्त्रों को रखा गया है, जिनके अन्दर आशा-भरे, शक्तिशाली, उत्साहयुक्त, स्फूर्तिमय, दीर्घ, मधुर और सुपुष्ट जीवन को उद्दीपक भावनाएँ पाई जाती हैं। इनके पाठ से पाठक जान जाएँगे कि वैदिक संस्कारों में पला हुआ मानव अपने हृदय में जीवन-सम्बन्धी किन-किन और कैसी-कैसी चाहों और उमंगों को लिए हुए होता था।

हमारे अनुवाद का लक्ष्य सरल, समन्वित शब्दार्थ मात्र देना है। अपनी ओर से कहीं-कहीं थोड़े से शब्द जोड़ने पड़े हैं, ताकि केवल मूल वाक्य के अनुसार अर्थ स्पष्ट हो सके।

भाव यह है यदि कोई पाठक केवल अनुवाद भी पढ़े, तो उसे उसमें मूल ग्रंथ जैसा रस प्रतीत होना चाहिए। जब कोई अनुवाद शब्दों के पदार्थ से बहुत दूर चला जाता है, तो वह छायार्थ या भावार्थ होकर व्याख्या का कार्य भले ही कर सके, परन्तु वह अनुवाद नहीं कहा जा सकता। उससे पाठकों को ऐसा लगता है कि अनुवादक अपनी मन-मानी बातों को यँही मूल-पाठ के माथे मढ़ रहा है। इसलिए हमने मूल शब्दों से जोड़ खाने वाले अर्थों को ही सरल प्रकार से रखने मात्र का प्रयत्न किया है।

मूल पाठ को पढ़ने में सुगम बनाने के लिए छन्दों के चरणों को अलग-अलग करके रखा गया है। जहाँ-जहाँ सन्धि के कारण पाठ कठिन हो गया है, वहाँ-वहाँ संहित वर्णों को अलग-अलग दिखा कर पाठ को सरल और सुबोध बना दिया गया है। साथ में इस बात का भी बराबर ध्यान रखा गया है कि पाठ का तार न टूटे। जहाँ कहीं मूल में पाठ टूटा हुआ प्रतीत हुआ है, जैसे मं. ११६ में, वहाँ पाठ-पूर्ति का कुछ सुझाव मात्र भी कोष्ठक में जोड़ दिया गया है।

प्रत्येक पृष्ठ पर पढ़े गए मन्त्र किस वेद के किस स्थल से लिए गए हैं, यह दिखाने के लिए प्रत्येक पृष्ठ के निचले भाग में ऋ. (=ऋग्वेद), य. (=यजुर्वेद), सा. (=सामवेद) और अ. (=अथर्ववेद) के सम्बन्धित स्थल-संकेत सम्बन्धि मन्त्रों की संख्याओं के आगे दे दिए गए हैं।

स्वर की दृष्टि से वेद-पाठ के उतार-चढ़ाव के तीन मुख्य माप होते हैं, जिन्हें अनुदात्त, उदात्त और स्वरित कहते हैं। इन तीनों मापों को प्रदर्शित करने के वैदिक 'शाखाओं' में कई प्रकार के रेखात्मक और अंकात्मक चिह्न अक्षरों के नीचे

ऊपर लगाए जाते हैं। इन चिह्नों के नानाविध होने के कारण भिन्न-भिन्न 'शाखाओं' का संतुलनात्मक अध्ययन करना अति कठिन हो जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के भाव से हमने अपने 'वैदिक-कोष' के कार्य के लिए एक विशेष प्रक्रिया चालू की हुई है, जिसके अनुसार प्रत्येक पद का केवल मुख्य स्वर, अर्थात् उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित, क्रमशः नीचे की पड़ी रेखा या ऊपर की खड़ी रेखा द्वारा दिखाया जाता है। यह प्रक्रिया, विशेषतः, प्रत्येक पद के अर्थ को समझने का यत्न करने वाले अध्यापकों और छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। इसलिए इस ग्रंथ में भी इसी के अनुसार प्रत्येक पद के नीचे या ऊपर केवल एक-एक पड़ी या खड़ी रेखा ही दी गई है।

ग्रन्थ में (१) 'वेद-सार का सूक्तसार' और (२) 'मन्त्र-प्रतीक-सूची' को लगाया गया है। निःसन्देह, तुलनात्मक दृष्टि से ग्रंथ का अध्ययन करने वालों के लिए ये उपकरण बहुत उपयोगी होने चाहिए।

४. प्रस्तुत संस्करण—

इस ग्रंथ का प्रथम प्रकाशन सं० २००८ में हुआ था। वेद-विद्या में प्रवेश करने वाले प्रौढ़ छात्रों के विशेष लाभार्थ इसके प्रस्तुत 'शैक्षणिक संस्करण' में इसे, आरम्भ में, वैदिक साहित्य के सामान्य इतिहास में प्रवेश कराने वाली 'भूमिका' से और, अन्त में, दो 'परिशिष्टों' से समन्वित किया गया है। इनमें से प्रथम 'परिशिष्ट' में वैदिक व्याकरण, स्वर तथा छन्द के बारे में कुछ आवश्यक संकेत दिए गए हैं। दूसरा 'परिशिष्ट' लगभग ५०० विशिष्ट पदों के कोष के रूप में है। इस कोष में

प्रत्येक पद के आगे उसकी मन्त्र-संख्या देकर व्याकरण की दृष्टि से उसके स्वरूप-परिचय का संकेत किया गया है। इस कोष में कहीं-कहीं पढ़ने-पढ़ाने वालों के परिचित व्याकरण-ग्रंथों से विसंवाद भी दृष्टि-गोचर होगा। जैसे, अकरम् पद को पाणिनीय व्याकरण में √कृ (तना.) लुङ् उ१ कहा गया है। परन्तु यहां पर √कृ (भ्वा) को कल्पना करके प्रकृत रूप को लङ् उ१ निदिष्ट किया गया है। अध्यापक महानुभावों से विशेषतः यह निवेदन है कि वे ऐसे स्थलों को तुलनात्मक ढंग से छात्रों को ग्रहण कराने का कष्ट करेंगे और, कुच्छ-एक ऐसे भी टिप्पण होंगे जिन्हें छात्र अपने गुरु-जनों के परामर्श-पूर्वक ही भली-भांति अवगत कर सकेंगे।

५. आभार-प्रकाशन—

भारत की शाश्वत-सम्पत्ति-स्वरूप वेद-विद्या को जनता के हितार्थ प्रकाशित करने के लिए स्वयं भारत ने युग-युगान्त में, और पश्चिम संसार ने वर्तमान युग में, जिन तपोधन, सूक्ष्मदर्शी वैदिक आचार्यों और व्याख्याकारों को जन्म देकर श्रुति भगवती को सुरक्षित रखने और हम तक पहुंचाने का योग्य माध्यम बनाए रखा है, हम हृदय से उन सबका आभार स्वीकार करते हैं। वस्तुतः यह उन गुरु-जनों के किए हुए कार्य की ही महिमा है, जो हमें भी वेद-विद्या की कुछ तुच्छ सेवा करने का यह सुअवसर प्राप्त हुआ है।

इस ग्रन्थ के अन्त में जोड़े गए (१) 'वेदसार का सूक्तिसार' (२) 'मन्त्र-प्रतीक-सूची' एवं (३) 'स्थल-संकेत-सूची' को निष्पन्न करने का श्रेय श्री देवदत्त शास्त्री जी को है। 'परिशिष्ट (१)' और 'परिशिष्ट (२)' के प्रथम विन्यास,

क्रमशः, श्री मंत्रिणीप्रसाद जी तथा श्री शिवप्रसाद भारद्वाज जी ने सम्पन्न किए थे, जिन्हें श्री भीमदेव जी ने संशोधित रूप में प्रस्तुत किया है। अपने 'संस्थान' के इन विद्वानों ने अपने-अपने उक्त कार्य-भाग को पूरे ध्यान और परिश्रम के साथ उत्तम रूप में किया है। पञ्जाब विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग के विद्वान् श्री जगन्नाथ जी अग्रवाल ने 'भूमिका' के सम्बन्ध में विशेष सामग्री जुटाई है। इसी प्रकार, 'संस्थान' के 'प्रकाशन-विभाग' और 'मुद्रण-विभाग' ने इस ग्रंथ को जिस अच्छे ढंग से तैयार करके निकाला है, वह बहुत संतोष-जनक है। मैं अपने इन सब सहयोगियों के इस योग-दान को बहुत मूल्यवान् समझता हूँ और इनके लिए इनका हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ने संस्कृत एम. ए. की परीक्षा के लिए ग्रंथ को पाठ्य-पुस्तक नियत करके इसका मान बढ़ाया है। इस सम्मान-दान के लिए उक्त विश्वविद्यालय के अधिकारियों का भी विशेष धन्यवाद किया जाता है। आशा है, सम्बन्धित प्राध्यापक एवं छात्र-गण इस ग्रंथ को यथावत् उपयोगी पाएँगे। कहना न होगा कि हम भी अपने इस प्रयत्न को उनके संतोष के अनुपात-पूर्वक ही सफल समझ सकेंगे।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान,

साधु-आश्रम, होशियारपुर,

व्यास-पूजा, २०१८

(१७-७-१९६२)

विश्वबन्धु

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
प्रस्तावना—	5
१. माला-नायक का परिचय, २. माला का इतिहास और क्षेत्र, ३. उपस्थित ग्रन्थ, ४. प्रस्तुत संस्करण, ५. आभार प्रकाशन,	
भूमिका :—वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय	15
१. संस्कृत भाषा और साहित्य, २ वैदिक साहित्य, ३. ऋग्वेद, ४. यजुर्वेद, ५. सामवेद, ६. अथर्ववेद, ७. ब्राह्मण, ८. आरण्यक, ९. उपनिषद्, १०. श्रुति और स्मृति, ११. वेदाङ्ग, १२. शब्दशास्त्र और छन्दस्, १३. कल्प, १४. ज्योतिष,	
देव-प्रीति:	३
स्वास्थ्यवत् पूर्णमायुः	३
देवानां प्रियः सुपथः	४
देवानामाशीः	५
देवानां शान्तिकारिता	६
जलदेवतानां शान्तिकारिता	८
आनन्दमयं जीवनम्	९
क्षेत्र-देवस्य प्रसादनम्	१०
अभयस्याऽभिजाषा	११
शत्रुशमनं शक्तिप्रसादनम्	१३
ऐश्वर्यं देवस्य प्रातः-प्रसादनम्	१४
उषोदेवतायाः शुभागमनम्	१६
सूर्य-देवस्य शुभोदयः	१६
सवितृ-देवस्य प्रसादनम्	१७
अग्नि-देवस्य प्रसादनम्	१८
मृत्युञ्जयो मन्त्रः	२०
सरस्वती-देव्याः प्रसादनम्	२०
वाचस्पति-देवस्य प्रसादनम्	२१

विद्यायां प्रीति-प्रकर्षः	...	...	२३
मेधा-देव्याः प्रसादनम्	...	...	२४
आकूति-देव्याः प्रसादनम्	...	...	२५
बलस्य कामना	...	...	२६
आत्मोत्साहनम्	...	...	२८
स्वास्थ्य-समुद्भावनम्	...	...	२९
उत्साह प्रवाहः	...	...	३१
तेजसः कामना	...	...	३२
हस्तिवर्चसः कामना	...	...	३३
मधुरं-प्रभावुकं जीवनम्	...	...	३५
मधुरं जीवनम्	...	...	३६
सम्पुष्टं जीवनम्	...	...	३७
पवित्रं जीवनम्	...	...	३८
शिव-संकल्पः	...	...	३९
पाप-निर्मोक्षणम्	...	...	४१
पापात् संरक्षणम्	...	...	४२
सुसंस्कार-प्रबोधनम्	...	...	४३
यज्ञमयजीवनस्य साफल्यम्	...	...	४४
संजीवनम्	...	...	५०
मृत्यु-निवारणम्	...	...	५१
पुनर्-जीवनम्	...	...	५३
प्राण-प्रत्यास्थापनम्	...	...	५४
जीवनाशीः	...	...	५६
साध्यानुप्रशंसा	...	...	५६
साध्य-संव्यापनम्	...	...	५८
वेदसार का सूक्तिसार	...	...	५९
वेदसार हिन्दी अनुवाद	...	नए पृष्ठ	३
परिशिष्ट (१)—वैदिक, स्वर, छन्द (आवश्यक संकेत)	...	...	५९
,, (२)—विशिष्ट-पद—कोष	...	...	७२
मंत्र प्रतीक सूची	...	...	९५

भूमिका

वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय

१. संस्कृत भाषा और साहित्य—

विश्व-मानवीय वाङ्मय के विशाल क्षेत्र में हम भारतीयों के संस्कृत वाङ्मय का, क्या इसकी प्राचीनता और क्या इसकी समृद्धि के कारण, अपना ही अनुपम स्थान और मान है। पूजा और पाठ हो, धर्म और कर्म हो, दिचार और विमर्श हो, कथा और कहानी हो, काव्य और नाटक हो, नीति और उपदेश हो, विद्या और विज्ञान हो, कला और कौशल हो—संस्कृत वाङ्मय के अतृप्त इन सभी के तथा और भी अनेक प्रकार के वर्णनार्ह वस्तुवर्गों के भरपूर भण्डार पाए जाते हैं। जिस सुदूरवर्ती अतीत युग में इस सुसम्पन्न, सुविकसित और सुमनोहर साहित्यिक सृष्टि का सर्वप्रथम सोता बह निकला, उसके उपरान्त अब तक, कौन जाने और कौन कहे, कितनी सहस्राब्दियाँ बीत चुकी हैं। किन्तु धन्य है इस अनादि-निधना सहस्र-धारा सरिता की सरसता कि अभी तक बराबर बही चली जाती है।

इसी बीच में, लगभग तीन सहस्र वर्ष पहिले से, संस्कृत-परिवार की ही उत्तरोत्तर प्रजास्वरूपिणी पाली-प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के युग प्रवृत्त हो चुके हैं, जो क्रमशः अपने-अपने कतिपय मनावशेष पीछे छोड़ते हुए स्वयं प्रायः नामावशेष हो गए हैं। परन्तु कितने रोमांचकारी आश्चर्य की बात है कि इन्हीं तीन सहस्र वर्षों के सुदीर्घ समय में भी संस्कृत के सांस्कृतिक भण्डारों के अपने नये से नये गगन-चुम्बी भवन भी, साथ के साथ, बराबर आज दिन तक खड़े होते चले आए हैं। इसके साथ ही, उक्त संस्कृत-कुलीय भाषाओं के अनेक रत्नागार भी धीरे-धीरे संस्कृत का ही रूप पुनः धारण करते हुए संस्कृत के विशाल भवन में ही समाविष्ट हो गए हैं।

संस्कृत का यह विशाल साहित्य युग-युग में भारतीयों के सर्व-विध सांस्कृतिक उत्कर्षों और आवशों को मुकुरित करता हुआ चला आया है। साथ ही, यह उन्हीं महार्घ सांस्कृतिक मान्यताओं और प्रथाओं के आधार पर इस देश की विविध-भाषिणी, विविध-भोजिनी और विविध-वासिनी रहती हुई भी समूची जनता की भावनात्मक एकरूपता के स्थिर रंग में एक-रंग करता है। वर्तमान एकराष्ट्रता के अति नवीन युग के आने से पूर्व यह महान् देश कभी-कमार ही एक-छत्री राष्ट्र बन पाता था। साधारणतः, यह छोटे-बड़े स्वतन्त्र राजतन्त्रों में बँटा ही रहता था। परन्तु ऐसा होते हुए भी संस्कृत को समूचे भारत का प्रधान साहित्यिक माध्यम होने का गौरव सदा ही प्राप्त रहा है। इसकी इसी व्यापक मान्यता के फल-स्वरूप ही कामाख्य से भुज-कच्छ और कन्याकुमारी से अमरनाथ तक का भारत अन्तःखण्डित होने पर भी एक अखण्ड भारत बना रहा है और इसके सभी प्रदेशों के निवासी समान-रूप से भारतीय बने रहे हैं।

प्राचीन समय में भारतीय लोग तिब्बत, मध्य एशिया, मंगोलिया, कोरिया, जापान, चीन, सुमात्रा, जावा, बाली, मलय, वीतनाम, लाउस, कम्बोज, बर्मा, लंका, गन्धार, अफगानिस्तान, ईरान, पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका, दक्षिणी यूरुप तथा (अनेक विद्वानों के मतानुसार) अफ्रीका, ऐसे दूर-दूर के विदेशों में पहुँच चुके थे, जहाँ वे प्रायः बस कर वहाँ-वहाँ की मूल जनता के साथ घुल-मिल गये। उन में से जो वैदिक अथवा श्रामणिक धर्मों में विशेषतः निष्ठावान् थे, वे अपने धर्म-ग्रन्थों को भी अपने साथ ले गए और उन्हीं के अभ्यास तथा प्रचार में लगे रहे। उन्होंने कृषि, वाणिज्य, प्रशासन आदि अन्य सर्वविध व्यवसायों में लीन हो रहे अपने शेष भारतीय बन्धुओं के अन्दर संस्कृत और पाली-प्राकृत साहित्यों के प्रति श्रद्धामयी ज्योति जगृत रखी। साथ ही, उन्होंने वहाँ-वहाँ के अपने से पहले के निवासियों को भी भारत के प्राचीन ग्रन्थों के सबुददेशों द्वारा बहुत प्रभावित

किया। उसी के फलस्वरूप बाहर के उक्त सभी विदेशों की भाषाओं एवं उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों पर संस्कृत और पाली-प्राकृत की बहुत गहरी छाप पड़ी जो आज तक स्थिर चली आई है। इस प्रकार संस्कृत-भाषा देश-विदेश की सभी भाषाओं के मध्य में अपने अनन्त गुण-बम्ब के पुष्प प्रताप से उन की सार्वदेशिक और सार्वकालिक सम्राज्ञी के रूप में सुप्रतिष्ठित होकर युग-युग में शोभायमान होती रही है।

२. वैदिक साहित्य—

संस्कृत साहित्य की श्री-वृद्धि के सर्व-प्रथम युग में वेदों का आविर्भाव हुआ। संसार के किसी भी देश-प्रदेश से किसी अन्य ऐसे नाम ग्रहण के योग्य साहित्य का लेशमात्र भी पता नहीं मिलता, जिसे वैदिक साहित्य से अवश्य प्राचीनतर ही कहना चाहिए। वैदिक साहित्यिक प्रवृत्ति का सूत्रपात ठीक कहां और कब हुआ, यह विषय अभी तक विवाद-ग्रस्त ही चला आता है। किन्तु जैसा कि अब प्रायः माना जाता है, यह विशाल वाङ्मय मुख्यतः भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र की ही उपज है। इस की मूल सृष्टि आज से लग-भग ५००० वर्ष पूर्व से प्रारम्भ हो कर लग-भग ३००० वर्ष पूर्व तक चलती रही। तत्-कालीन भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र के साथ आज के पश्चिमी पाकिस्तान, अफगानिस्तान, रूसी व चीनी तुर्किस्तान और पूर्वोत्तरी ईरान का ज्ञातीय तथा सांस्कृतिक ऐक्य बहुत-कुछ बना रहा। अतः, इन दृष्टियों से, उक्त सुविशाल क्षेत्र पश्चिमोत्तर भारत के साथ मिल कर एक अभिन्न देश सा बना हुआ था। काल-क्रम से उक्त वैदिक क्षेत्र का दक्षिण-पूर्व में भी, पहले, गंगा, गोमती तक और फिर कुछ और उधर आगे तक विस्तार हो गया था।

३. ऋग्वेद—

आदिम वेदयुगीन धर्म-कर्म-निरत 'ऋषिओं' अर्थात् सन्त कविओं के मुख से उन के भक्ति-भाव-भरित, भावनोद्दीप्त हृदय की उपज-स्वरूप जो छन्दोमय 'मन्त्र' अर्थात् उद्गार निकले, उन्हें 'ऋचा' कहते

ये । इस प्रकरण में पठित 'ऋचा' शब्द का सम्बन्ध 'स्तुति, पूजा, आराधना' को कहने वाले ✓अर्च् के सगोत्र ✓ऋच् से है और 'ऋषि' शब्द में पाया जाने वाला ✓ऋष् भी इसी अर्थ को ही कहता है । एवं 'मन्त्र' शब्द ✓पण्, ✓पन्, ✓मण्, ✓मण् और ✓वण् के सगोत्र शब्दार्थक ✓मन् से निष्पन्न हुआ है । प्रचलित धातुपाठों में इन धातुओं के यह अर्थ नहीं मिलते ।

मूलतः, ऋचाएँ मृतकों एवं सूक्तों के रूप में चिर काल तक प्रकट होती रहीं । धीरे-धीरे इनकी संख्या अत्यधिक हो गई और इन सभी अस्त-व्यस्त हुए काव्योद्गारों को स्मृति में स्थिर बना रहना बहुत कठिन हो गया । विस्मृति-वश इनका लोप भी होने लगा । इस कारण इन के पठन-पाठन और पारायण को उत्साहपूर्वक चलाने वाले संप्रदायविद् आचार्यों के हृदय में आशङ्का पैदा होने लगी कि ऋचाओं के इसी तरह से बराबर लुप्त होते चले जाने से कहीं पूर्व पुरखाओं के तीव्र तप का फल-स्वरूप यह परम्परोपलब्ध बहुमूल्य संप्रदाय विकल और विच्छिन्न न हो जाय । अतः उन्होंने अपनी इस महाधर्मपैतृक निधि की रक्षार्थ पूरा प्रयत्न किया । वे जहाँ-तहाँ जा-जा कर भिन्न-भिन्न संप्रदायविदों से मिले और जो भी ऐसी ऋचाएँ मिलीं, जो इन के अपने हाँ से लुप्त हो चुकी थीं, उन सब को उन्होंने कण्ठस्थ कर लिया । तब फिर उन्होंने अपने स्थान पर आकर उन सब ऋचाओं के संपूर्ण पाठ के प्रचारार्थ उनको विशेष रूप से व्यवस्थित और क्रम-बद्ध करते हुए ग्रथित अर्थात् संगृहीत कर लिया (तु. यास्कीय निरुक्त १, २०) । यही हमारा वह 'आदि ग्रन्थ' बना, जो 'वेद' के पवित्र नाम से युग-युगान्तर में प्रसिद्ध रहा । यह 'वेद' शब्द योग और मिश्रण के वाचक 'वेध' शब्द तथा संगमन-वाचक 'मेध्' शब्द का सगोत्र था, जिस कारण इस का प्राथमिक अर्थ 'संग्रह' मात्र था । यह पंजाबी शब्द 'बीड़' का पर्याय था । यह 'ऋचाओं' का संग्रह है, इस भाव को स्पष्टतर करने के अभिप्राय से इस का पूरा नाम कालान्तर में

‘ऋग्वेद’ प्रसिद्ध हुआ। इस का दूसरा नाम ‘ऋक्-संहिता’ भी है, जो इसी आशय को प्रकट करता है।

प्रचलित ऋग्वेद में १०५४२ ऋचाओं का संग्रह मिलता है, जो १०२८ ‘सूक्तों’ में बंटी हुई हैं। इन में कुल मिला कर ८० ऋचाओं के ११ सूक्त ‘वालखिल्य’ अर्थात् ‘परिशिष्ट पाठ’ के रूप में चले आते हैं। ये सब सूक्त १० मण्डलों में विभक्त हैं। छः मण्डलों (२-७) में से एक-एक का पृथक्-पृथक् मूल ऋषि और उस के वंशज ऋषियों के साथ संबन्ध कहा जाता है। इस प्रकार, ये छः मण्डल क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ ऋषियों और उनके कुलों से संबन्धित चले आते हैं। उन्हीं से इन का प्रथम प्रकाश हुआ था, ऐसा समझा जाता है। ८वां मण्डल कण्व और अङ्गिरस् ऋषियों के कुलों की मिली-जुली उपज है। ९ला और १०वां मण्डल बहुत से ऋषि कुलों की देन हैं। यही बात ९वें मण्डल के बारे में पाई जाती है। किन्तु इस की विशेषता यह है कि इस के सब सूक्तों का ‘सोम’ ही एक मात्र ‘देवता’ अर्थात् प्रधान रूप से स्तुति का विषय है। ऋग्वेद का एक दूसरा विभाग-प्रकार भी चलता रहा है, जिस के अनुसार यह आठ-आठ अध्यायों वाले आठ अष्टकों में बंट जाता है। विभाजन के इन दो प्रकारों में से मण्डलीय प्रकार ही प्राचीन ऋषि परिवारों के इतिहास की दृष्टि से विशेषतः महत्त्व-युक्त कहा जा सकता है। इसी प्रकार की ही आधुनिक युग के विद्वानों ने विशेषतः अपनाया है।

‘ऋचाओं के गाने वाले ‘ऋषि’ पृथिवी से लेकर सूर्य पर्यन्त और उस से भी परे व्याप रही और रूप-रूप में प्रतिरूप हो कर बस रही महामहिम, मायामयी देवी विश्व-शक्ति के उपासक थे। उसी परम तत्त्व की विश्व-भावना से उजागर हो पड़ी उसी आर्च दृष्टि में भूमि, जल, वायु, सूर्य आदि असंख्य पदार्थ साधारण भौतिक पदार्थ ही नहीं रह जाते थे। वे सभी ‘देवता’ अर्थात् उसी परात्-पर-रूपी ‘एकं सत्’ के सन्देश-वाहक प्रतीक और उसकी

स्थलरूपिणी भौतिक अभिव्यक्ति के माध्यम बन जाते थे। उन्हीं अनेक नामों वाले अग्नि, इन्द्र आदि 'देवताओं' का पूजामय, भावना, काव्यरमक वर्णन और गुण-गान 'ऋचाओं' का मुख्य विषय है। साथ ही, ऋचाओं के अंदर इन के 'ऋषिओं' के तत्त्वचिन्तन एवं नानाविध लौकिक और व्यावहारिक अनुभव के फलस्वरूप अनेक अन्य विषयों से संबन्धित उपदेशों और संकेतों का समावेश भी मिलता है। उक्त अग्न्यादि 'देवता' तथा तद्-भिन्न-प्रकारक सभी पदार्थान्तर, जिन का ऋचाएं बखान करती हैं, वे सब समान रूप से उनके 'देवता' अर्थात् 'स्तुत्य' और प्रतिपाद्य विषय' कहे जाते थे। प्रकृत 'देवता' शब्द स्तुत्यार्थक ✓ दिव् से निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार से, गम्भीर पारमार्थिक भावनाओं और विविध व्यावहारिक सूचनाओं का आविम उद्गम होने के नाते, एक और, संजीवन की आध्यात्मिक प्रेरणा पाने के लिए और, दूसरी ओर, भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम युग के इतिहास की खोज करने के लिए ऋग्वेद का अत्यन्त महत्त्व है, जिसे सभी विचारक मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करते चले आते हैं।

ऋग्वेद आदिकाव्य होता हुआ भी अपने ओजस्, प्रसाद और माधुर्य आदि गुणों तथा अनुप्रास, उपमा, रूपक आदि नानाविध शब्दालंकारों एवम् अर्थालंकारों से ओत-प्रोत वर्णनों के कारण चोटों का उत्तम काव्य कहा जा सकता है। निदर्शन नात्र के लिए उत्तरोक्त कुछ उद्धरण देखने योग्य हैं—

मन्दिभिन्द्राय मन्दिने । चर्कि—चक्रये (१, १, २)

मा गामनागासुदिति वधिष्ट (८, १०, १५)

सुदक्षो दक्षैः ऋतुनासि सुकृतुः (१०, ११, ३)

सु नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव (१, १, ९)

अस्येद् भिया गिर्यश्च दृढाः (१, ११, १४)

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते (१, ८, १)

वसूवो वसुपते वसूनाम् (१०, ७४, १)

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्ति,
अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते ।
दिव्या अङ्गारा इरिण म्युन्ताः,
शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥ (१०, ३४, ९)

ऋग्वेद में संगृहीत सब ऋचाओं का निर्माण ऋषियों की एक-दो पीढ़ियों का ही कार्य नहीं था। इसका कई शतियों में विस्तार होता रहा होगा। इस लिए सूक्तों और, कई बार, ऋचाओं की भाषा में पुरानी और नई की दृष्टि से स्तरभेद पाया जाता है। १०वें मण्डल की भाषा विशेष रूप से कुछ नई होने से सरल लगती है। ऋषि लोग स्वयं अपने से पहले के ऋषियों और उनकी कही पुरानी ऋचाओं का संकेत करते हैं (ऋ १, १, २; ६, ३४, २)। इस प्रकार भाषा की दृष्टि से अनेक-युगीन होने एवं साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर और परिमार्जित होने के कारण ऋचाओं की भाषा जन साधारण की बोल-चाल की भाषा से बहुत भिन्न हो चुकी थी। श्रीचथ्य दीर्घतमस् ऋषि को ऐसा लगता था कि यदि ऋचाओं की शब्दराशि के चार भाग कर लिए जाएँ, तो उनमें तीन भाग ऐसे बनते थे जो तत्कालीन साधारण अपठित जनता के लिए बुरा हो चुके थे (तु. ऋ १, १६४, ४५)। ऋचाओं का ऋग्वेद के रूप में संग्रह होते-होते जनता की बोल-चाल की भाषा उन ऋचाओं की भाषा से व्याकरण और विशेषतः शब्दराशि की दृष्टि से पर्याप्त भिन्न हो चुकी थी।

ऋग्वेद का जो एक मात्र पूरा संग्रह अब मिलता है, वह आचार्य शाकल्य के उपदेशानुसार संपन्न हुआ था और उनके 'कुल' में उस का ही पठन-पाठन चलता था। परन्तु वैदिक संस्कृति के पूर्वोक्त विशाल क्षेत्र में उस समय और भी अनेक 'कुल' चल रहे थे। उन के कुलपति आचार्यों ने भी अपने-अपने 'कुलों' में वेद-पाठ की अलग-अलग परम्पराएँ प्रमाणित की हुई थीं। इस प्रकार, ऋग्वेद एक होता हुआ भी अनेक संग्रहों के रूप में प्रचरित था। इन विभिन्न संग्रहों की संख्या २१ बताई गई है।

इन संग्रहों में संकलित ऋचाओं तथा सूक्तों की संख्या और स्थिति के बारे में कहीं-कहीं कुछ-कुछ अन्तर पाया जाता था। उदाहरणतः, शांख्यायनीय ऋग्वेद में पूर्वोक्त ११ वालखिल्य सूक्त मूल में ही समाविष्ट होकर पढ़े जाते थे और दशम मण्डल के वर्तमान अन्तिम १६१वें सूक्त के उपरान्त १५ ऋचाओं का एक और १६२वां सूक्त बढ़ा कर पढ़ा जाता था। बाष्कलीय 'कुल' में भी इस १६२वें सूक्त को इसी प्रकार पढ़ा जाता था। परन्तु उनके संग्रह में ११ वालखिल्य सूक्तों में से $9\frac{1}{2}$ सूक्तों ही का पाठ मूल में समाविष्ट किया गया था। शतपथ ब्राह्मण (११,५,१,१०) में ऋग्वेद के एक और विभिन्न संग्रह का संकेत मिलता है, जिस में अब १८ ऋचाओं वाले के रूप में पाया जाने वाला उर्वशी-पुरुवरवस् का सूक्त (१०,६५) १५ ऋचाओं वाले रूप में पढ़ा जाता था।

इन विभिन्न पाठ-परंपराओं का प्राचीन नाम 'शाखा' चला आता है। इस लिए जो पूर्वोक्त संग्रह अब प्रचलित हैं, उसे ऋग्वेद की 'शाकल-शाखा' कहते हैं। प्रसिद्ध वृक्षीय 'शाखा' शब्द के सामान प्रकृत 'शाखा' शब्द भी 'विटप' का ही पर्याय समझा जाता है। परन्तु यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती। कारण, जिस प्रकार वृक्ष अनेक शाखाओं वाला होने से 'शाखिन्' शब्द का वाच्य बनता हुआ भी, उन सभी शाखाओं के छेदन के पश्चात् उन से पृथक् सत्ता वाला वृक्ष-पदार्थ स्कन्ध के रूप में ज्यों का त्यों बना रहता है और स्वतन्त्र में दृष्टि-गोचर होता है, उस प्रकार, अपनी पूर्वोक्त प्रकार की 'शाकली' आदि शाखाओं के अभाव में ऋग्वेद अन्य कोई पृथक् सत्तावान् पदार्थ पीछे बचा नहीं रहता। इतना ही नहीं, एक और विशेष अन्तर भी है। वृक्ष की प्रत्येक शाखा सदा शाखा मात्र ही रहती है, कभी भी पूरे वृक्ष की पदवी को प्राप्त नहीं कर पाती। परन्तु ऋग्वेद की पूर्वोक्त शाखाओं में से एक-एक 'शाखा' स्वयं, मानो, अपने सहज अधिकार से, संपूर्ण ऋग्वेद के पद पर प्रतिष्ठित चली आती

है। उस-उस 'कुल' वालों के लिए उस-उस 'शाखा' के प्रतिरिक्त कोई और 'ऋग्वेद' नाम वाला पदार्थ नहीं था। उस-उस 'कुल' के लोग यह अवश्य जानते थे कि उन से कुछ दूरी पर स्थित उस-उस दूसरे 'कुल' के लोग उस-उस विभिन्न ऋग्वेद-शाखा को पढ़ते हैं परन्तु वे पहले 'कुल' के लोग उस-उस दूसरे 'कुल' द्वारा प्रमाणित ऋग्वेद-शाखा को अपने हाँ के लिए प्रामाणिक नहीं समझते थे। अतः वे न केवल उसका पाठ ही नहीं करते थे, वरन् उसके पाठ को अशुद्ध भी समझते और कहते थे।

उपरीय विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की पूर्वोक्त शाखाएँ वृक्ष की शाखाओं के समान नहीं थीं, प्रत्युत उसी के अपने समूचे संगृहीत पाठ के विभिन्न सर्वथा समकक्ष रूप थीं। वस्तुतः ये दोनों शाखा शब्द एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। निर्वचन की दृष्टि से इन दोनों का अपना-अपना अलग ही इतिहास था। प्रकृत शाखा शब्द का मूल उपदेश अर्थात् 'पाठ' अर्थ वाले √श (शा) क् (ख) से था, जिसके √श (शँ) स् और √शा (शि) स् (ष्) रूपान्तर मात्र थे। किंतु संस्कृत के प्रचलित 'धातुपाठों' में इस धातु का निर्देश नहीं मिलता। किंतु ऋग्वेद (७, १०३, ५) के अध्यापक-वाचक 'शाक्त' शब्द से इसकी प्राचीनतर विद्यमानता प्रमाणित होती है। 'शक्वरी', 'शक्वार्थ', 'शब्द-शक्ति' आदि प्रचलित प्रयोग भी मूलतः वचनरूपी अभिप्रेत अर्थ को सीधा कहने वाले इसी धातु के ज्ञापक हैं। वाग्-वाचक 'शुची' (निघण्टु १. ११) √शच्, अर्चन-वाचक 'शशमान्' (निघण्टु ३, १४) का √शश्, ऋग्वेद (१०, ११) के 'सुखि' का √सख्, पंजाबी के वृत्तांत-पर्याय 'साखी' शब्द का √स (सा) ख् और प्रसिद्ध बाङ्गमय-वाचक 'साहित्य' शब्द का √सा (ख् >) ह् भी उक्त धातु के ही सगोत्र हैं।

प्रकृत 'शाखा' शब्द का ही पर्यायभूत 'चरण' शब्द भी था। इस में पाया जाने वाला √चर्, 'शब्द' अर्थात् 'पठन-पाठन' का वाचक था। इस धातु का यह अर्थ धातुपाठ में नहीं मिलता। इसी √चर् से

‘आचार्य’ और ‘उच्चारण’ शब्दों की निष्पत्ति हुई थी। यह धातु ‘गति’ ‘मक्षण’ अर्थ वाले ✓चर् से भिन्न ही था।

४. यजुर्वेद—

भारतीय साहित्य के जिस आदिम युग में वैदिक ‘देवताओं’ के स्तोत्रों के रूप में ‘ऋचाओं’ का आविर्भाव और विकास हुआ, उसी में उस से भी कहीं अधिक प्राचीन युग से चली आ रही यज्ञरूपी पूजा-प्रणाली का और भी विशेष रूप से विकास हुआ। ऋग्वेद में अतीव प्रचुरता से उपलब्ध हो रहा देवपूजा-वाचक ✓यज् से निष्पन्न तिङन्त और कृदन्त पदों का प्रयोग इसी स्थिति की सूचना देता है। सहस्रों ऋचाएं ऐसी हैं, जिन्हें समझने के लिए उन की याज्ञिक पृष्ठभूमि का समझना अत्यावश्यक है। जिन ‘ऋषिकुलों’ से उद्गत होकर ऋचाओं की ध्वनियां आकाश में गूंजी थीं, वहीं से याज्ञिक प्रथाओं का भी विस्तार हुआ। परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि सब की सब ऋचाएं साक्षात् क्रियमाण यज्ञ-कर्म के साथ-साथ उच्चारण करते जाने के लिए ही रची गई हों। जंसे वर्तमान युग के सन्त कवियों ने कृष्ण-लीला और राधा, मुरली आदि उस के कई-एक उपकरणों की तथा प्रममागी कवियों ने मधुशाला, साकी और प्याले की पृष्ठभूमि का पदे-पदे आश्रय लेकर और, मानो, उससे नित्य नई प्रेरणा और उत्तेजना पाकर विशुद्ध भक्ति और वेदान्त के गीत गाये हैं, वैसे ही वैदिक ऋषियों ने भी अपनी अतीव परिचित याज्ञिक पदावली का प्रायः इसी प्रकार से आलंकारिक उपाश्रय ही लिया था, ऐसा प्रतीत होता है। हां, हो सकता है कि पीछे आकर कुछ ऋचाएं साक्षात् यज्ञ-कर्म में पढ़ने के उद्देश्य से भी रची गई हों।

पद्यात्मक मन्त्र अर्थात् ऋचाएं कहने वाले ऋषियों ने स्वयम् अथवा उन के ‘कुलों’ के अन्य ऋषियों ने अवश्य भिन्न प्रकार के ऐसे गद्यात्मक मन्त्र भी कहे थे, जो यज्ञ-कर्म के साथ-साथ ही बोले जाने वाले थे। ऐसे मन्त्रों का नाम ‘यजुस्’ रखा गया था। इन्हें साक्षात् यज्ञकर्म के

मन्त्र कह सकते हैं। इनकी रचना का काल ऋचाओं की रचना के साथ-साथ समानान्तर रूप से चलता रहा प्रतीत होता है। तभी तो ऋग्वेद (१०, ६०, ९) में इनकी और स्पष्ट रूप से किया गया संकेत मिलता है।

यज्ञ-कर्म में गद्यात्मक यजुओं के साथ-साथ बोले जाने के लिए जो ऋचाएं विनियुक्त अर्थात् आचार्यों द्वारा नियत की जाती रहीं, उनके भिन्न-भिन्न यज्ञ-कर्मों के प्रकरणानुसार 'पुरोनुवाक्या' अर्थात् 'आहुति-कर्म की अवतरणिका के रूप में पढ़ी जाने वाली' 'याज्या' अर्थात् 'साक्षात् आहुति-कर्म कराने वाली' आदि विभिन्न नाम पड़ गए थे।

उनके अन्दर यज्ञ कर्म के आगे-पीछे तथा बीच-बीच में अनेक अन्तर हुआ करते थे। आचार्य लोग किये जा रहे यज्ञ-कर्मों और उन के निमित्त पढ़े जाने वाले पद्यात्मक एवं गद्यात्मक मन्त्रों के स्पष्टीकरण के लिए उनके कई प्रकार के व्याख्यान कर दिया करते थे। उन गद्यमय प्रवचनों को मन्त्र और यज्ञ कर्म, दोनों, के व्याख्यान-स्वरूप 'बृहण' अर्थात् विस्तार होने के कारण 'ब्राह्मण' कहते थे।

जब समय पाकर यज्ञकर्म संबन्धी पूर्वोक्त दोनों प्रकार के अर्थात् पद्यात्मक तथा गद्यात्मक मन्त्रों और उनके याज्ञिक प्रकरण से संगत व्याख्यानात्मक 'ब्राह्मणों' की संख्या बहुत बढ़ गई, तो उनको कण्ठस्थ रखने के सौकर्य के लिए उनका संग्रह कर लिया गया। उन का नाम 'यजुर्वेद' हुआ। जैसा विभिन्न ऋषि-कुलों ने अपनी-अपनी पाठ-परंपरा के अनुसार अपना-अपना ऋग्वेद संकलित किया था, उसी प्रकार उन्होंने अपनी-अपनी याज्ञिक परम्परा के अनुसार अपना-अपना यजुर्वेद भी संकलित किया।

यजुर्वेद के इन आदिम विभिन्न संग्रहों में मन्त्रों के साथ ब्राह्मण-पाठों का भी सम्मिश्रण पाया जाता था। पोछे आकर वाजसनेय परिवार के ऋषि-कुलों ने ऐसे यजुर्वेद संकलित किए जिनमें केवल मन्त्र ही रखे गए, ब्राह्मणांश नहीं। इन दोनों प्रकार की याजुष 'शाखाओं' की संख्या सामान्यतः १०१ बताई गई है, परन्तु 'चरणव्यूह' में ८६ कही

गई है। इस समय पूर्व वर्ग की तैत्तिरीय, मंत्रायण, काठक और कपिष्ठल 'शाखाएं' एवं उत्तर वर्ग की माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाएं मिलती हैं।

यजुर्वेद के इन दो प्रकार के संग्रहों में विवेक करने के लिए पूर्ववर्ती संग्रहों को 'कृष्ण' अर्थात् सम्मिश्रित कहा गया। इस 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति खिचड़ी-वाचक 'कृशर' और 'कृसर' शब्द में पाए जाने वाले मिश्रणार्थक √कृश् और √कृस् के सगोत्र √कृष् से कहनी चाहिए। यहां काले वर्ण के साथ इस धातु का संबंध नहीं है इसी प्रकार उत्तरवर्ती संग्रहों को ब्राह्मणांशों से विमुक्त कर दिए जाने के कारण उन्हें 'शुक्ल' अर्थात् 'परिशोधित, परिपूत' कहा गया। यहां इस शब्द का 'श्वेत' वर्ण से संबंध नहीं है।

५. सामवेद—

वेदयुगीन समग्र वाणी अपने सहज स्वरूप से गान-प्रवण प्रवृत्ति वाली थी। उसका एक-एक अक्षर वाचनिक उतार-चढ़ाव की शृंखला में बन्धा हुआ उच्चरित होता था। पद्यात्मक ऋचाओं के पाठों में यह विविक्तस्वरमयी प्रवृत्ति और अधिक विस्पष्ट हो जाती थी। परन्तु वैदिक भक्तों और सन्तों का अन्तरात्मा इस साधारण वेद-पाठ मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। वे ऋचाओं के स्वर-सहित पढ़ने मात्र में न लगे रहकर, अपनी फुरनी के अनुसार नानाविध आलापों और रागीं में उनके गाने के अभ्यास में निरत हुए। उनके उस सुदीर्घ-कालीन अभ्यास के फलस्वरूप विभिन्न सांगीतिक ताल स्वरों में ढाल-ढाल कर गाई जाने वाली ऋचाओं के योगों का 'सामन्' नाम पड़ा, जो मूलतः (प्र√स्व 'मधुरालापे' >) 'प्रस्वामन्' से परिणत हुआ लगता है (तु. ऋ ८, १२, ३२)। विभिन्न 'कुलों' के संगीताचार्य ऋषिओं ने काल-क्रम से इन सामों के अपने-अपने संग्रह बनाए, जो साम-गान की उस-उस शाखा के रूप में प्रचरित और प्रसिद्ध हुए। सामगानों की इन शाखाओं की संख्या १००० बताई गई है। इसका

यही श्रुतिप्राय प्रतीत होता है कि उस युग में संगीत का बहुत अधिक विकास हो चुका था। ऋग्वेद में तत्कालीन सामगान के प्रचुर प्रचार के पर्याप्त संकेत पाए जाते हैं (तु. १, ६२, २; १६४, २४ प्रभू.)।

पूर्वोक्त प्रकार से ऋचाओं के आधार पर सामों का विकास संपन्न हुआ था। इस संबंध में जिन-जिन ऋचाओं का विशेष रूप से उपयोग किया गया था, उन-उन ऋचाओं के संग्रह का नाम ही सामवेद पड़ा था। विभिन्न ऋषि-कुलों ने अपने-अपने हां सामगानार्थ उपयोग-गाहं ऋचाओं के अलग-अलग संग्रह बनाये थे, जो सामवेद की विभिन्न शाखाएं प्रसिद्ध हुईं। 'सामतर्पणविधि' के अनुसार ये शाखाएं राणायन प्रभृति १३ सामगानाचार्य ऋषियों ने पृथक्-पृथक् चालू की थीं। इन १३ शाखाओं में से इस समय कौथुमी और जैमिनीय शाखाएं ही मिलती हैं। राणायनीय और कौथुमी शाखाओं में समान ऋचाओं का ही संग्रह किया गया था, परन्तु उनकी गणना-पद्धतियों में कुछ-कुछ अन्तर था। कौथुमी और राणायनीय संग्रह में संगृहीत कुल ऋचाएं १८७५ हैं, जिन में से १०५ ऐसी हैं, जो ऋग्वेद की अब एकमात्र उपलब्ध शाकल शाखा में नहीं मिलती। अवश्य ये १०५ ऋचाएं भी ऋग्वेद की ही किसी अन्य अब लुप्त हो चुकी शाखा से ली गई होंगी।

६. अथर्ववेद—

ऋचाओं को कहने वाले ऋषि-वर्ग में दो प्रकार की प्रवृत्तियों वाले कवि सम्मिलित रहे। प्रथम, आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले जो दैवी आराधना, आत्मोद्बोधना और ज्ञानोद्भावनता में निरत रहते और मुख्य रूप से उन्हीं विषयों के मन्त्र कहते थे। दूसरे, लोक-संगृही प्रवृत्ति वाले जो पौरोहित्य और वैद्यक के अभ्यास द्वारा समाज का नेतृत्व करते हुए अपनी एवं अपने यजमानों की सुख-संपत्ति की वृद्धि और दुःख-दुर्गति की निवृत्ति के लिए उद्युक्त रहते थे। ऋग्वेद में मुख्य रूप से वे मन्त्र संगृहीत हुए जो ऋषियों की प्रथम अर्थात् आध्यात्मिक प्रवृत्ति

की उपज थे। पूर्वोक्त प्रकार से इसी ऋक्-संग्रह के उपसंग्रह के रूप में सामवेद विकसित हुआ। पीरोहित्य-पर मन्त्रों में से जिनका तत्कालीन याज्ञिक संस्था के पृष्ठवंश-स्वरूप हविर्यज्ञों, पाकयज्ञों और सोमयज्ञों से विशेष संबन्ध पड़ता था, उनका मुख्य संग्रह यजुर्वेद में हुआ। ऋषि लोग तत्-कालीन सामान्य विश्वास के आधार पर, जिन अपने सिद्ध किए हुए मन्त्रों के माध्यम से, साथ में ओषधियों, मणियों (गट्टों) और अमिचार-कर्मों (जादू-टूणा) का उपयोग करते हुए, अपनी और अपने यजमानों की मंगलवृद्धि और अमंगल-बाधा और अपने एवं अपने यजमानों के शत्रुओं की मंगल-बाधा और अमंगल-वृद्धि संपन्न करते थे, उनका संग्रह, मुख्यतः, अथर्ववेद के नाम से और, साथ में अथर्वङ्गिरोवेद, भृग्वङ्गिरोवेद, भंषज्यवेद, ब्रह्मवेद और क्षत्रवेद के नामों से भी प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं और इसी प्रकार के अन्य मन्त्रों का पीछे आकर यन्त्र (जन्त्र) और तन्त्र नाम पड़ा। भारतीय जन्त्र-मन्त्र और तन्त्र के इस प्राचीनतम संग्रह-स्वरूप अथर्ववेद से ही उत्तरकालीन आयुर्वेद और तन्त्रशास्त्र का विकास हुआ। प्राचीन समय में अथर्ववेद की नौ शाखाओं का प्रचार बताया जाता है। उन में से दो अर्थात् शौनक और पंप्पलाद शाखाएँ ही अब उपलब्ध हैं।

अथर्ववेद के उक्त प्रकार के सभी विषय ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी विद्यमान हैं। परन्तु वहाँ ये बहुत कम मात्रा में पाए जाते हैं। ऋग्वेद (१०, ७१, ११) से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि ऋग्वेदी, सामवेदी, यजुर्वेदी और अथर्ववेदी विद्वान् मिलकर ही यज्ञों को संपन्न कर पाते थे। उनमें से ऋग्वेदी 'होता' कहाता था, सामवेदी उद्गाता, यजुर्वेदी अध्वर्यु और अथर्ववेदी ब्रह्मा। वे सब समान रूप से ऋत्विज् कहते थे। उन में से ब्रह्मा तभी बोलता था जब उसे उपस्थित या आशंकित किसी विघ्न-बाधा को अपने विशेष मन्त्र-बल से बांध डालना या छिन्न-भिन्न कर देना होता था। उसकी इसी विद्या को ऋग्वेद के उक्त मन्त्र में 'जात' नाम दिया गया है। इसे ही आजकल 'भाड़ा' या 'भाड़'.

करना कहा जाता है। ऋग्वेद (१०. ६०. ६) में जो 'छन्दस्' शब्द पढ़ा गया है, वह आथर्वणिक मन्त्रों का वाचक प्रतीत होता है। वहाँ पर इन मन्त्रों को अग्न्य सब मन्त्रों अर्थात् ऋचाओं, यजुओं और सामों के साथ समकक्ष कहा गया है। अथर्ववेद (१०, ७, २०) में भी यही भाव प्रकट किया गया है।

अथर्ववेद मुख्यतः अथर्वन्, भृगु और अङ्गिरस के तीन ऋषिकुलों की देन है। इन तीनों ऋषियों की ऋग्वेद में भी बड़ी महिमा कही गई है। ऋग्वेद और अथर्ववेद का शेष आर्ष संप्रदाय भी प्रायः समान ही है। इस लिए आरम्भ में अथर्ववेद की मान्यता दूसरे तीनों वेदों के समान ही थी। रचना की दृष्टि से अथर्ववेद के मन्त्र अत्यधिक अंश में ऋचाओं और अत्यल्प अंश में यजुओं के रूप में ही प्रकट हुए हैं। इस कारण यद्यपि वेद चार हैं, तथापि उनमें पढ़े गए मन्त्रों के तीन ही प्रकार रहे हैं, अर्थात् ऋच्, यजुस् और सामन्। ऋग्- यजुः-साम-लक्षणक (मनु १, २३) त्रिवर्गता के आधार पर ही वेदचतुष्टय की 'त्रयी-विद्या' के नाम से प्रसिद्धि हुई (तु. श्रवा ४, ६, ७, १)। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि पहले तीन वेद ही थे और अथर्ववेद पीछे का है।

परन्तु पीछे आकर, प्रतीत होता है, अथर्ववेदियों की जादू-टूणा आदि घोर अभिचारकर्मों में विशेष प्रवृत्ति के कारण दूसरे लोग उन से भयभीत और आशंकित रहने और अथर्ववेद के प्रति उपेक्षा करने लगे थे। इसी कारण, और पीछे आकर, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद ही प्रामाणिक हैं, अथर्ववेद की मान्यता उनकी अपेक्षा कम है, ऐसी धारणा बन गई थी। संभवतः, जनता की इस उपेक्षामयी धारणा का प्रतीकार करने के लिए ही मूलतः १८ काण्डों वाले अथर्ववेद का पुनः संस्करण किया गया। उसके फल-स्वरूप पहले ऋग्वेद से बहुत-कुछ मिलता-जुलता १६वां काण्ड बढ़ाया गया और फिर २० वां काण्ड और जोड़ दिया गया, जिस में साक्षात् ऋग्वेद के ही सूक्त उठाकर

रख लिए गए। साथ ही पहले के १८ काण्डों के अन्दर भी अनेक तात्विक, आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों का पर्याप्त भाग प्रभाव-शाली प्रकार से मिला दिया गया। इस तरह से अथर्ववेद का वेद-युग के समग्र ज्ञान के प्रतिनिधि संग्रह के रूप में विकास हुआ।

७. ब्राह्मण—

ऊपर कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय आदि संहिताओं के प्रसंग में कहा जा चुका है कि इन ग्रन्थों में मूल मन्त्रों अर्थात् ऋचाओं और यजुओं के साथ कर्मकाण्डीय व्याख्यान-स्वरूप ब्राह्मण-संज्ञक गद्यात्मक भाग का भी संमिश्रण पाया जाता है। ऐसा लगता है कि शाखान्तरीय ऋषियों में से सर्वप्रथम शुक्ल यजुर्वेदी वाजसनेयी आदिकों को ही अपनी-अपनी शाखा के पृथक् पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। तदुपरान्त उन्होंने अवश्य इस ओर भरसक प्रयत्न किया होगा, जिसका सूचक 'शतपथ' ब्राह्मण है जो ब्राह्मण ग्रन्थों में श्रेष्ठ समझा जाता है। इस ग्रन्थ से प्रतिस्पर्धित-से होकर ही 'तैत्तिरीय शाखा' वालों ने 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' नामक अपने पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थ की भी रचना की। कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेदों की अन्य शाखा वालों ने भी संभवतः अपने-अपने ब्राह्मण ग्रन्थ बनाए होंगे। उनमें से केवल शुक्ल यजुर्वेदी काण्व और माध्यन्दिन, इन दो शाखाओं के समान नाम वाले और कुछ ही अंशों में एक-दूसरे से विभिन्न दो 'शतपथ' ब्राह्मण मिलते हैं।

आरम्भ में, बहुत समय तक ऋग्वेदी, सामवेदी और अथर्ववेदी ऋषियों को अपने-अपने ब्राह्मण ग्रन्थ बनाने की विशेष अपेक्षा प्रतीत नहीं हुई होगी। कारण, सभी बड़े-बड़े यज्ञों को वे आपस में मिलकर ही संपन्न करते थे। जैसा ऋग्वेद (१०, ७१, ११) में कहा है, होता ऋचाओं को पढ़ता था, उद्गाता सामों को गाता था, अध्वर्यु यजुओं को पढ़ता और कर्म-विधि को संपन्न करता-कराता था और ब्रह्मा आथर्वणिक जन्त्रों-मन्त्रों द्वारा विघ्न विनाश करता रहता था। संम-

मतः, पहले अनेक ऐसे ऋषि रहे होंगे, जिन्हें अपने वेद के साथ ही एक, दो या तीनों अन्य वेद भी उपस्थित थे। हो सकता है, आजकल के प्रचलित द्विवेदी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी शब्द उसी प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करते हों। धीरे-धीरे समय आया होगा जब परिमित शक्ति और ईर्ष्या आदि के कारण 'स्वाध्याय' अर्थात् अपनी-अपनी शाखा मात्र के पठन-पाठन तक ही वेद-पाठ सीमित होता गया होगा। उसी युग में ऋग्वेदी, सामवेदी, अथर्ववेदी ऋषिकुलों ने कर्मकाण्डों के सम्पादन में अपनी-अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने और उसके द्वारा अपने-अपने यजमान वर्ग को अपने-अपने वशीभूत किए रहने के भाव से अपने-अपने ब्राह्मण ग्रन्थ अलग बनाए होंगे। उन वैदिक ऋषियों के चलाए विभिन्न कुलों की ऐसी प्रवृत्ति में ही, प्रतीत होता है, वह विषेला बीज निहित था जिसने उत्तरोत्तर अधिकाधिक बढ़ती गई जाति-पांति की भेद भावना के धिनौने रूप में पनप-पनप कर सहस्रों वर्षों से एक भारतीय को दूसरे भारतीय से रोटी-बेटी के आपस के सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से विच्छिन्न रखते हुए राष्ट्रीय और मानवीय भावनात्मक एकता की स्थापना के मार्ग में अत्यन्त दुष्पार पहाड़ खड़ा कर रखा है।

इस समय यजुर्वेद के उक्त दोनों शतपथों और तैत्तिरीय ब्राह्मण के अतिरिक्त ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकि (अथवा) शांखायन ब्राह्मण, सामवेद के ताण्डय, जैमिनीय, (अथवा) तलवकार उपनिषद्, बृहत्, षड्विंश, सामविधान, संहितोपनिषद् तथा आर्षेय ब्राह्मण एवं अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण मिलते हैं।

८. आरण्यक —

ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना यज्ञों के विधान और विवरण स्पष्ट रूप से देने के लिए हुई। मतः, विधि और अर्थवाद ही उनके स्वरूप के मुख्य अंग रहे। परन्तु उनके बनाने वाले ऋषि लोग याज्ञिकमात्र न थे, विचारक भी थे। वे विभिन्न याज्ञिक कर्मों के तात्त्विक और औपचारिक

भावों की गवेषणा भी किया करते थे। यही यज्ञ क्षेत्रीय ज्ञान-विज्ञान की चर्चाएं 'आरण्यक' कहलाने वाले ग्रन्थों का मुख्य विषय है। ऐसी चर्चाएं ऋषियों के आश्रमों तथा यज्ञमण्डपों के भीतर चलती रहती थीं कहीं बसती से दूर जंगल में अवश्य जाकर ही नहीं, जैसा कि 'आरण्यक' शब्द भ्रान्ति-वश 'अरण्य' शब्द से व्युत्पन्न मान कर प्रायः समझा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'तात्पर्य' के पर्यायभूत 'अर्थ' शब्द का एक प्रादेशिक उच्चारण '*अर्थ' के रूप में भी होता था। उस 'अर्थ' शब्द का ही एक दूसरा स्वाधिक सगोत्र शब्द था '*अधर्मन्', जिस से 'अधर्मन्' के माध्यम से '*अधर्मन्' का उदगम हुआ जो 'आरण्यक' के रूप में विपरिणत होता हुआ ऋषियों द्वारा की गई उक्त प्रकार की तात्पर्यार्थ-चिन्तनाओं के संग्रह-स्वरूप इन ग्रन्थों का नाम पड़ गया*।

आरम्भ में ये आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ उनके अन्तिम भागों के रूप में जुड़े रहते थे। शुक्ल यजुर्वेदियों का 'बृहदारण्यक' अभी तक उनके शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अर्थात् १४वें काण्ड के रूप में ही पाया जाता है। धीरे-धीरे ऐसा लगने लगा कि इन ग्रन्थों का विचारात्मक विषय ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड-स्वरूप मुख्य विषय से ठीक मेल नहीं खाता। परिणामतः, इनका पृथक् ग्रन्थों के रूप में विकास होने लगा। तैत्तिरीय यजुर्वेदियों का तैत्तिरीयारण्यक और ऋग्वेदियों के ऐतरेयारण्यक और शांखायनारण्यक इस प्रकार के पृथक् ग्रन्थों के रूप में इस समय उपलब्ध होते हैं। अन्य शाखाओं के आरण्यक ग्रन्थ भी प्रचलित हुए थे। प्राचीन साहित्य में उन के सम्बन्ध में कहीं-कहीं संकेत पाए जाते हैं। सम्भवतः, वे सब अब लुप्त हो चुके हैं।

ऋषामवेद के पूर्वाचिक के अन्त में एक परिशिष्ट है जो 'आरण्य-काण्ड' कहलाता है। यह आरण्य शब्द √ऋध् *बन्धने से बने *अधर्मन् शब्द का तादृश रूप है। जंगल के वाचक अरण्य शब्द का मूल √ऋध् 'बृद्धी' से बने एक तीसरे '*अधर्मन्' शब्द में है।

६. उपनिषद्—

ऊपर कहा जा चुका है कि ऋषियों के कहे मूल-मन्त्रों की सृष्टि पहले से चली आ रही याज्ञिक पृष्ठभूमि के उपाश्रय से हुई थी और अनेक मन्त्र ऐसे भी कहे गए थे जो साक्षात् यज्ञ-परक ही थे। मन्त्रों में यत्र-तत्र याज्ञिक विचार और उपचार भी पाए जाते थे। इन्हीं के आधार पर याज्ञिक कर्म-कलाप के विहित प्रवर्तन और स्वरूप-विवरण के निमित्त ब्राह्मण ग्रन्थों का और मन्त्र-संकेतित याज्ञिक विचार के और अधिक विस्तार के निमित्त आरण्यक ग्रन्थों का विकास हुआ। जैसा कि पहले कहा गया है, मन्त्रों में उक्त याज्ञिक प्रकरणों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकरण भी उपनिबद्ध हुए थे। उन प्रकरणों के कितने ही स्थलों में इस रहस्यमय संसार के संबन्ध में परम सूक्ष्म तत्त्व-विवेचन के अति गम्भीर संकेत मिलते हैं*। कई-एक अंशों में, इन संकेतों के विचारों की उड़ान से बढ़ी हुई उड़ान विचार-क्षेत्र में अब तक भी नहीं लगाई जा सकी। परन्तु पीछे आकर, कर्मकाण्ड की प्रधानता के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण ऐसा लगने लगा कि, मानो, ब्राह्मणों की ही भान्ति मूल मन्त्रों में भी कर्मकाण्ड की ही मुख्यता है और उन का उसी की निष्पत्ति में परम तात्पर्य है। परन्तु वास्तव में स्थिति यह थी कि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की दोनों ही धाराएं बहुत पहले से समानान्तर हो कर चलती आती थीं। इनमें से कर्मकाण्ड की धारा जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों के रूप में विवृद्ध हुई, वैसे ही ज्ञानकाण्ड की धारा भी उपनिषद्-नामक ग्रन्थों के रूप में विस्तृत हुई। इसी कारण उपनिषद्-साहित्य को 'वेदान्त' अर्थात् 'वेद-मत' भी कहा गया। इस शब्द में तथा 'कृतान्त', 'राढ़ान्त' और 'सिद्धान्त' शब्दों में उत्तरपक्ष के रूप में पढ़ा गया 'अन्त' शब्द मन्तव्य-

*जैसे, देखें ऋ १, ९३, ४; १६४, ६; ४६; ३, ५४, ५, ८; ८, ५८, २; १०, ८२, ६; ७; १२९, १—७; अ १०, २, १४; ७, २१, ८, ६; ११, २८, २९; य. ३२, १; ८; ९; ४०, ४; ५.

वाचक 'अर्थ' शब्द का सगोत्र पर्याय समझना चाहिए, 'अवसान' या 'समाप्ति' का वाचक नहीं। उपनिषदों में जो कहीं कहीं कर्मकाण्ड की हीनता कही है, उसका भी बीज साक्षात् संहिताओं के मंत्रों में मिलता है। अतः उपनिषदों के ऐसे वचनों को उनके द्वारा कर्मकाण्ड के विरुद्ध उठाए गए किसी सर्वथा नवीन सांप्रदायिक आन्दोलन के संकेत कहना अनावश्यक है। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि उपनिषदों में जहां सामान्यतः ऐहिक और भ्रामणिक, दोनों ही प्रकार के सुखों से उदासीन मोक्ष-मार्ग का उपदेश पाया जाता है, वहां मोक्ष-पद की प्राप्ति के साधन के रूप में यज्ञादि कर्मों के त्याग का नहीं, प्रत्युत उनसे प्राप्य फलों की प्राप्ति के त्याग का ही प्रायः निर्देश किया है। कहीं-कहीं यज्ञादि कर्मों की प्रशंसा भी की है। ईशोपनिषद् (मं. २) में तो यहां तक कह दिया गया है कि कर्म-निरत रहते हुए ही मनुष्य मोक्ष लाभ कर सकता है। अतः, यही कहते बनता है कि उपनिषदों में कर्म-सापेक्ष एवं कर्म-निरपेक्ष, दोनों ही प्रकार के मोक्ष-मार्ग के संकेत मिलते हैं। इन में से प्रथम प्रकार के साथ उत्तरकालीन गृहस्थ 'सन्त-मत' की और द्वितीय प्रकार के साथ भ्रामणिक और बंदिक्, दोनों, संन्यास-धर्मों की परम्पराएं मिल जाती हैं। इस प्रकार, वर्तमान हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म, तीनों ही ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से उपनिषद्-सेतु द्वारा वेदों से जा जुड़ते हैं।

इन ग्रन्थों में ईश, तत्, सत्, एक, आत्मन्, ब्रह्मन्, भूमन् आदि अनेक नामों द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व-चिन्तन करते हुए जगद्-माया के अनिवर्चनीय मूल का संकेतात्मक होता हुआ भी यथाशक्य प्रति सुन्दर, सजीव और प्रेरणात्मक प्रतिपादन किया गया है। इन ग्रन्थों में 'उप' अर्थात् 'परमतत्त्व-विषयक-उच्चतम' 'निषद्' अर्थात् 'निरुक्ति' पाए जाने से ही इन्हें यह नाम मिला होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इसी लिए 'नि✓सद्' के धातु-भाग का शब्दार्थक '✓कथ्' का सगोत्र होना

संभावित है (तु. अ १६, ४१, १; केउ ४, ७; यास्क ३, १२; पा ४, ३, ७३; ४, १२)।

इस समय लगभग २०० उपनिषदें पाई जाती हैं। इनमें से ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, इवेताद्वयतर, कौषीतकि और महानारायण प्राचीन वैदिक संप्रदायों के के अन्तर्गत कही जाती हैं, जो, संभवतः, महात्मा बुद्ध से पूर्ववर्ती युगों में प्रसिद्ध हुई थीं। शेष उपनिषदें अर्वाचीन वंणव, शैव, शाक्त, योग, वेदान्त और अन्य सामान्य या संमिश्र संप्रदायों के अन्तर्गत पीछे आकर प्रचलित हुईं। इन में से कोई-कोई तो अत्यन्त नवीन हैं। जैसे, पिण्ड-ब्रह्माण्डोपनिषद्, जिसे स्वामी केशवानन्द ने चालू शताब्दी के आरम्भ में ही रचा था। सभी उपनिषदों में, चाहे वे प्राचीन हों और चाहे नवीन, पूर्वोक्त प्रकार से, वैदिक बीज से साक्षात् अथवा परम्परागत क्रम से विरूढ हो कर पनपा अध्यात्म प्रधान मोक्ष मार्ग का उपदेश ही सामान्यतः प्रतिपादित है।

१०. श्रुति और स्मृति—

वैदिक वाङ्मय के घटक-स्वरूप संहिता-ग्रन्थ, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक-ग्रन्थ और उपनिषद्-ग्रन्थ, सभी मिल कर 'श्रुति' अर्थात् 'मूल वचन' कहे जाते हैं। इस संबन्ध में ✓श्रु (श्रु) को शब्दार्थक ✓स्व और ✓कृ का पर्याय समझना चाहिए। इसे 'श्रवण' के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। यद्यपि संहिताओं के मन्त्र ही वस्तुतः 'मूल वचन' थे, तथापि प्राचीनतम ऋषियों द्वारा किए गए उन के व्याख्यान-स्वरूप ही होने के कारण वैदिक साहित्य के ब्राह्मणादि शेष भाग भी गौणरूप से 'वेद' और 'श्रुति' इन दोनों ही नामों से प्रसिद्ध हुए। 'श्रुति' का तात्पर्य-चिन्तन करते हुए उत्तरकालीन ऋषिओं और आचार्यों ने अनेक विचारात्मक और विधानात्मक शास्त्रों की रचना की। उनके 'चिन्तन' के फलस्वरूप होने के कारण, 'श्रुति' से पृथग्भूत इन सब विविध उपदेशात्मक ग्रन्थों की

सामान्य संज्ञा 'स्मृति' पड़ी। इस शब्द का मूल ✓स्मृ 'चिन्तायाम्' में समझना चाहिए, न कि स्मरणार्थक ✓स्मृ 'आध्याने' में, जैसा कि साधारणतः समझा जाता है।

११. वेदाङ्ग—

वैदिक ऋषि-कुलों में मुख्यतः वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का पठन-पाठन चलता था। उस अभ्यास-क्रम में दो बातें मुख्य होती थीं, उच्चारण, पाठ अथवा गान शुद्ध हो और पद-पदार्थ का ठीक बोध हो। साथ ही, व्यावहारिक दृष्टि से, शिष्यों को यह भी परिज्ञान कराना होता था कि वह-वह यज्ञ-कर्म किस-किस समय और किस-किस प्रकार करना चाहिए तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तरों पर आचरण कैसा-कैसा होना चाहिए। बड़े-बड़े ऋषि-कुलों ने इन विषयों के यथावत् अनुशासन के लिए, आधुनिक विश्वविद्यालयों की ही भांति, अपने-अपने, पाठ्य-ग्रन्थ बना कर चालू कर रखे थे। इन ग्रन्थों के अभ्यास द्वारा उपर्युक्त सभी अपेक्षित बातों का बोध हो जाता है। इस लिए इन्हें 'लक्षण-ग्रन्थ' या 'लक्षण शास्त्र' कहा जाता है। इन्हीं के द्वारा वेदों के बारे में सम्यक् 'लक्षण' अर्थात् 'दर्शन' साम हो सकता था। यही कारण था कि इन्हें वेदों के 'अङ्ग' अर्थात् 'बोधक' भी कहते थे। प्रकृत 'अङ्ग' शब्द ✓अङ्ग 'लक्षणे' से निष्पन्न कहना चाहिए। यह भाग-वाचक नहीं है, जैसा कि साधारणतः समझ लिया जाता है। ये ग्रन्थ वैदिक विद्याओं के बोधक थे, वे वेदों के भाग नहीं थे।

इन वेदाङ्गीय ग्रन्थों द्वारा मुख्य रूप से छः विद्याओं का अभ्यास कराया जाता था। इन विद्याओं के नाम थे शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष। इन 'अङ्गों' अर्थात् विद्याओं के अभ्यास का इतिहास बहुत पुराना है। मुण्डकोपनिषद् (१,१,५) में तो इन्हें यही छः नाम लेकर इसी क्रम से परिगणित किया ही है, संहिताओं,

ग्राह्यणों, आरण्यकों और अन्य उपनिषदों में और भी ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जिनसे इन विद्याओं का पर्याप्त व्यापक प्रचार सूचित होता है।

१२. शब्दशास्त्र और छन्दस्—

‘शिक्षा-वेदाङ्ग’ उच्चारण शास्त्र का पर्याय है। यह शब्द ✓शास् से पाठ-विधि के अर्थ में निष्पन्न ‘शिष्या’ शब्द का रूपान्तर है। इस समय मुद्रित और अमुद्रित बहुत-सी शिक्षाएँ मिलती हैं, जिन में से आपिशलि, नारदीय, पाणिनीय, भारद्वाज, माण्डूकी, याज्ञवल्क्य और शंशरीय शिक्षाओं के संस्करण ही कुछ-कुछ व्यवस्थित पाठ देते हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में उनकी अपनी-अपनी वेद-शाखा के उच्चारण, संधि, स्वर, पदपाठ आदि शिक्षा तथा व्याकरण, दोनों, वेदाङ्गों के क्षेत्रगत प्रकरणों का संमिश्रण पाया जाता है। इस समय ऋग्वेद का एक, सामवेद के तीन (ऋक्तन्त्र, पुष्पसूत्र, निदानसूत्र), तैत्तिरीय यजुर्वेद का एक, बाजसनेय-यजुर्वेद का एक और अथर्ववेद के (शौनक चतुरध्यायिका सहित) दो प्रातिशाख्य मिलते हैं। विशुद्ध और संपूर्ण वैदिक व्याकरण का प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलता। पाणिनीय व्याकरण शास्त्र मुख्यतः लौकिक संस्कृत के शिष्ट प्रयोग को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त हुआ था। उस दृष्टि की पुष्टि के उद्देश्य से ही उक्त प्रयोग से विलक्षण होते हुए भी प्रमाणभूत होने के कारण वैदिक प्रयोग का भी उस में ‘व्यत्यय’ का विषय कह कर समावेश किया गया था। ऐसा होते हुए भी, पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा अनुशिष्ट ‘त्रिमुनि व्याकरण’ में ही अब वैदिक व्याकरण की सर्वाधिक सामग्री उपलब्ध होती है। इसी प्रकार यास्काचार्य का (निघण्टु-सहित) निरुक्त शास्त्र प्राचीन निर्वचन-संबन्धी वेदाङ्ग की अनुपम प्रतीक के रूप में उपलब्ध है। यास्क पाणिनि से पहिले हुआ प्रतीत होता है। उस से भी पूर्व अन्य अनेक आचार्य हुए

थे जिन्होंने ने शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त के समुच्चय-स्वरूप शब्दशास्त्र की बहुमूल्य सूक्ष्म विवेचनाएँ की थीं, परन्तु उक्त उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनके नाम आदर-पूर्वक ले-लेकर उनकी बातों को अपनी रचनाओं में संकेतित कर दिया था। अतः, उन पूर्वयुगीय आचार्यों के ग्रन्थ तो लुप्त-प्राय हो चुके हैं, हाँ, उनके पवित्र नाम अब भी चले आते हैं। पूर्वोक्त और अन्य अनेक प्राचीन भारतीय शब्द-शास्त्री आचार्यों की महार्घ देन के पुण्यप्रताप से भारत को विश्वभर की भाषाविज्ञानीय परिषदों में विशेष मान प्राप्त है। आधुनिक भाषाविज्ञान के विकास में भारत की इस देन का महत्त्व सर्वत्र मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया जाता है। वैदिक छन्दों का विशुद्ध वेदाङ्ग-ग्रन्थ नहीं मिलता। इस विषय की चर्चा, लौकिक छन्दों से मिली-जुली पिङ्गल के छन्दःसूत्र में पाई जाती है। इसके अतिरिक्त ऋक्-सर्वानुक्रमणी, बृहदेवता, अथर्ववेद-सर्वानुक्रमणी आदि अनुक्रमणी ग्रन्थों में भी ऋषियों और देवताओं के साथ ही छन्दों की भी परिगणना की गई है। ऋक्प्रातिशाख्य, निदानसूत्र आदि प्रातिशाख्य ग्रन्थों में भी वैदिक छन्दों के बारे में प्रकरण पाए जाते हैं।

१३. कल्प—

वैदिक युग की धारणा के अनुसार मानव-जीवन कर्म-प्रधान होना चाहिए। वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक स्तरों पर मानव का शास्त्रोक्त एवं लौकिक समुचित आचार-व्यवहारात्मक कर्म उसका धर्म कहलाता है। धर्मसूत्रों में इसी धर्म का प्रतिपादन किया गया है। ऋषि-कुलों के अन्तर अपने-अपने आचार्यों के चलाए हुए धर्मसूत्रों का पठन-पाठन चलता था। अध्यापक-वर्ग इन्हीं के अनुसार आचरण करने का यत्न करते थे और उनके छात्रगण भी इसी अंश में उनके अनुकरण का।

उस समय शिष्टाचार-रूपी धर्म-कर्म के अतिरिक्त मानवेतर देवी और आसुरी शक्तियों में विश्वास के आधार पर देवी शक्तियों का प्रसाव और आसुरी शक्तियों का निग्रह सिद्ध करने में मानव की सहायता कर सकने वाला यज्ञादिक क्रियाओं के रूप में एक दूसरा अतिविस्तृत कर्म-कलाप भी प्रचलित था। इन कर्मों के अन्तर्गत दर्श-पौर्णमास, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम आदि बड़े-बड़े यज्ञों को श्रौत विधि के अनुसार वेदी की रचना के साथ, अग्न्याधान-पूर्वक पूर्व दिशा में आहवनीयाग्नि, पश्चिम दिशा में गार्हपत्याग्नि एवं दक्षिण दिशा में वक्षिणाग्नि, इन तीन अग्निश्रों की स्थापना करके होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा, इन चार मुख्य ऋत्विजों और उनमें से प्रत्येक के साथ जुड़े हुए कई-कई अन्य ऋत्विजों के सहयोग द्वारा संपन्न किया जाता था। इन यज्ञों को 'श्रौत कर्म' कहते थे। श्रौत सूत्रों में इन्हीं का विधान किया गया है।

उक्त विश्वास पर आश्रित कर्म-काण्ड का दूसरा विभाग गृह्य कर्म कहलाता था। कारण, इन कर्मों को संपन्न करने के लिए घर में बाहिर विस्तृत वेदी की रचना और तीन अग्नियों की स्थापना की अपेक्षा नहीं रहती थी। घर के अंदर ही सामान्य विधि से अग्नि जला कर उसमें इन्हें संपन्न किया जाता था। इनके लिए अनेक पुरोहितों की भी आवश्यकता नहीं होती थी। इन गृह्य कर्मों में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिर्वंशवदेवयज्ञ ये पञ्चमहायज्ञ प्रतिदिन किए जाने वाले मुख्य कर्म थे। इनके अतिरिक्त गर्भाधान से लेकर मरणपर्यन्त के जीवन में श्रौतप्रोत हो रहे षोडश संस्कार थे, जिनमें मुण्डन, उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि कर्म मुख्य थे। गृह-प्रवेश, भूमिकर्षण तथा सस्यवर्धन आदि अन्य भी सभी प्रकार के जीवन-व्यापारों के आरम्भ में विशेष गृह्य इष्टिओं अर्थात् लघु यज्ञों को किया जाता था। यही सब गृह्य सूत्रों में विहित है।

पूर्वोक्त श्रौत कर्मों, गृह्य कर्मों और धर्माचारों का सामान्य नाम 'कल्प' पड़ गया था। इसी कारण कल्पसूत्रों में सभी श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र संमिलित रहते थे। हो सकता है, प्रकृत 'कल्प' शब्द 'कर्म' शब्द का पर्यायभूत रूपान्तर हो। ऐसा होने पर, कल्प वेदाङ्ग का संज्ञाकरण सर्वथा अन्वर्थक हो जाएगा। कारण, इसमें उक्त प्रकारसे मानव द्वारा करने योग्य यज्ञात्मक और आचारात्मक उभयविध कल्पों अर्थात् कर्मों का विधान पाया जाता है।

इस समय इस वेदाङ्ग के अन्तर्गत लगभग २५ शाखाओं से संबन्धित ग्रन्थ पर्याप्त संख्या में पाए जाते हैं। इनमें श्रौतसूत्रों के अन्तर्गत आपस्तम्ब, आश्वलायन, काठक, कात्यायन, जमिनीय, द्राह्यायण, बौधायन, मानव, लाट्यायन, वाथूल, वाराह, बखानस, बंतान और हिरण्यकेशी मुख्य हैं। इनमें से कई एक के परिशिष्ट के रूप में शुल्ब-सूत्र भी, जिनमें भारतीय ज्यामितिशास्त्र का प्राचीनतम स्वरूप पाया जाता है, संमिलित हैं। गृह्यसूत्रों के अन्तर्गत आग्निवेश्य, आपस्तम्ब, आश्वलायन, काठक, कौषीतिक, कौशिक, गोमिल, जमिनीय, द्राह्यायण, पारस्कर, बौधायन, बंजवाप, मारद्वाज, मानव, वाराह, बखानस और हिरण्यकेशी मुख्य हैं। धर्मसूत्रों के अन्तर्गत आपस्तम्ब, काश्यप, गौतम, विष्णु, वासिष्ठ, बखानस, सुमन्तु और हिरण्यकेशी मुख्य हैं।

१४. ज्योतिष—

वैदिक साधक का पूर्वोक्त 'कल्प' द्वारा कल्पित लौकिक एवं पारलौकिक उद्देश्यों से चालू जीवन-क्रम अत्यन्त व्यवस्थित रहता था। प्रत्येक छोटी से छोटी विधि का भी अपना मूर्त अर्थात् युक्त समय निश्चित था। इसी कारण बहुत पहले से नक्षत्रों, ग्रहों और उपग्रहों की खगोल में प्रतिक्षण बदल जाने वाली विभिन्न स्थितियों की ओर उत्तका ध्यान

आकर्षित हो चुका था और वह जान गया था कि इन स्थिति-परिवर्तनों द्वारा काल-चक्र की अविच्छिन्न रूप से हो रही गति को क्योंकर मापा जा सकता है। साथ ही, उसका यह भी विश्वास था कि अमुक विशेष समय में किया जाकर ही अमुक विशेष यज्ञादि कर्म अभीष्ट फल प्रदान कर पाता है। स्वभावतः, उसने नक्षत्र-विद्या में बड़ी अभिरुचिपूर्वक प्रगति की, जिसके फलस्वरूप प्राचीन भारत अङ्गु-गणित, बीजगणित, रेखागणित विद्याओं और इनपर आधारित नक्षत्र-विद्या के विकास द्वारा आज से आठ-नौ सौ वर्ष पहिले तक संसार-भर में प्रसिद्ध रहा। ये ही विद्याएँ ज्योतिष वेदाङ्ग का विषय हैं। वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत यह बीज रूप से पाया जाता है। इस समय ऋग्वेद और यजुर्वेद के दो पृथक् 'वेदाङ्ग-ज्योतिष' उपलब्ध हैं। 'आथर्वण-ज्योतिष' भी अलग मिलता है।

वेदाङ्ग-साहित्य प्रायः सूत्रों के रूप में रचा गया था। न्यूनतम पद-प्रयोग द्वारा एक-एक प्रतिपाद्य विधि आदि का प्रवचन करना इस रचना की विशेषता थी। सूत्र की लघुता के निमित्त जब एक अक्षर भी कम हो सकता था, तो, कहा जाता है, सूत्रकार को पुत्रजन्मोत्सव के समान प्रसन्नता होती थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी में यह रचना, मानो अपनी पराकाष्ठा तक जा पहुँची थी।

१५. अन्य शास्त्र —

पूर्वोक्त प्रकार से, वेदों के अध्ययन और अध्यापन की विशिष्ट वैज्ञानिक अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए उक्त छः अङ्गों अर्थात् विद्याओं का विकास हुआ और उनसे सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना हुई। उसी स्रोत से प्रेरणा पाकर स्मृतिओं और धर्मशास्त्रों एवं रामायण महाभारत तथा पुराणों के विशाल साहित्य का विस्तार हुआ। उधर की ही मौलिक प्रेरणाओं के परिणाम-स्वरूप पुरुषमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक सूत्रों की रचना हुई, जिनमें प्राचीन

भारत का वैदिक तत्त्व-ज्ञान निहित है। ये ही प्रसिद्ध दार्शनिक संप्रदाय वेदों के छः उपाङ्ग कहलाते हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद, गन्धर्ववेद, धनुर्वेद और अथर्ववेद, इन चार विद्याओं की और आगे विवृद्धि हुई और इन्हें उपवेदों का नाम दिया गया। इनके अतिरिक्त नीतिशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र और वास्तुशास्त्र आदि उत्तरोत्तर विकसित होती रही। प्राचीन भारत की अन्य सभी विद्याएँ भी मूलतः पूर्वोपवर्णित वैदिक वाङ्मय पर ही आश्रित थीं। इन्हीं प्राग्भारतीय विद्याओं के अंदर ही श्रामणिक अर्थात् बौद्ध और जैन-शास्त्रों को भी संमिलित समझना चाहिए। कारण, इनकी भी मौलिक प्रेरणाएँ, तत्त्वांश में, वैदिक प्रेरणाओं से अभिन्न हैं। अतः, वैदिक साहित्य-राशि को ही युग-युगान्तर से बहती चली आ रही भारत की शाश्वत वाङ्मयी गङ्गा को गङ्गोतरी कहना सर्वथा उचित होगा। यह तथ्य भारतीय जनता की भावनात्मक एकता के लिए अत्यन्त महत्त्व-युक्त है।

वेद-सारः

१. देव-प्रीतिः

१. आ नो भद्राः कृतवो यन्तु विश्वतो,
ऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।

देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन-न ,
अप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥

२. देवानां भद्रा सुमतिर्ऋज्यतां,
देवानां रातिरभि नो निवर्तताम् ।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं,
देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥१॥

२. स्वास्थ्यवत् पूर्णमायुः

३. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा,
भद्रं पश्येमाऽक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनुभिर् ,
व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

४. शतमिन्तु शरदो अन्ति देवा,
यत्रा नश्चक्रा जरसं तनुनाम् ।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति,
मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥

१. ऋ. १, ८९, १; २. ऋ. १, ८६, २; ३. ऋ. १, ८६, ५;

४. ऋ. १, ८९, ९.

५. मा नो हेतिर्विवस्वत,

आदित्या कृत्रिमा शरुः ।

पुरा नु जरसो वधीत् ॥२॥

३. देवानां प्रियः सुपथः

६. येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः,

समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः ।

त आदित्या अभयं शर्म यच्छत,

सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥

७. य इशिरे भुवनस्य प्रचेतसो,

विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः ।

ते नः कृताकृतादेनसस्पृरि,

अद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥

८. सुत्रामाणं पृथिवीं ग्रामनेहसं,

सुशर्माणम् अदितिं सुप्रणीतिम् ।

दैवीं नावं स्वरित्रामनागसम्,

अस्त्रवन्तीम् आरुहेमा स्वस्तये ॥

५. ऋ. ८, ६७, २०; ६. ऋ. १०, ६३, ७; ७. ऋ. १०, ६३, ८;

८. ऋ. १०, ६३, १०.

९. विश्वे यजत्रा अधिवोचतोतये,
त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिहुतः ।
सत्यया वो देवहृत्या हुवेम,
शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥

१०. अपामीवाम अप विश्वामनाहुतिम्,
अपाऽरातिं दुर्विदत्रामघायतः ।
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतन,
उरु णः शर्म य वृता स्वस्तये ॥३॥

४. देवानामाशीः

११. अग्निः स मूर्तो विश्व एधते,
प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्पृगि ।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिर्,
भति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥

१२. यं देवासोऽवथ वाजसातौ,
यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्रसानसिम्,
अरिष्यन्तम् आरुहेमा स्वस्तये ॥

१३. स्वस्ति नः पथ्यासु ध्रुवसु,
 स्वस्त्यङ्गसु वृजने सर्व्वति ।
 स्वस्ति नः पुत्रकृत्येषु योनिषु,
 स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥

१४. स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णसः,
 वत्यभि या वाममेति ।
 सा नो अमा सो अरणे नि पातु,
 स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥४॥

५. देवानां शान्तिकारिता

१५. शं नो मित्रः शं वरुणः,
 शं नो भवत्वर्ग्यमा ।
 शं न इन्द्रो बृहस्पतिः,
 शं नो विष्णुरुक्रमः ॥

१६. शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु,
 शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।
 शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु,
 शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥

१७. शं नो देवः सविता त्रायमाणः,
 शं नो भवन्तृषसो विभातीः ।
 शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः,
 शं नः क्षेत्रस्य पतिगस्तु शंभुः ॥

१८. शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी,
 शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम् ।
 शान्ता उदन्वतीरापः,
 शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥

१९. शान्तानि पूर्वरूपाणि,
 शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।
 शान्तं भृतं च भव्यं च,
 सर्वमेव शमस्तु नः ॥

२०. शं नो वातः पवतां०,
 शं नस्तपतु सूर्यः ।
 शं नः कनिक्रदद्देवः,
 पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥

१७. ऋ. ७, ३५, १०; १८. अ. १६, ६, १; १९. अ. १६, १, २;

२०. य. ३६, १०.

२१. द्यौः शान्तिर् , अन्तरिक्षं ॐ शान्तिः ,
 पृथिवी शान्तिर् , आपः शान्तिर् , ओषधयः
 शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर् , विश्वेदेवाः
 शान्तिर् , ब्रह्म शान्तिः, सर्वं ॐ शान्तिः,
 शान्तिरेव शान्तिः, सा मा शान्तिरेधि ॥५॥

६. जल-देवतानां शान्तिकारिता

२२. आपो हि ष्टा मयोभुवस् , ता न ऊर्जे दधातन ।
 महे रणाय चक्षसे ॥

२३. यो वः शिवतमो रसस् , तस्य भाजयतेह नः ।
 उशर्तारिव मातरः ॥

२४. तस्मा अरं गमाम वो, यस्य ज्ञयाय जिन्वथ ।
 आपो जनयथा च नः ॥

२५. शं नो देवीरभिष्टय, आपो भवन्तु पीतये ।
 शं योरभि स्रवन्तु नः ॥

२१. य. ३६, १७; २२. ऋ. १०, ६, १; २३. ऋ. १०, ६, २;

२४. ऋ. १०, ६, ३; २५. ऋ. १०, ६, ४.

२६. आपः पृणति भेषजं, वरूथं तन्वै मम ।
ज्योक् च सूर्य दशे ॥

२७. शं न आपो धन्वन्याः, शमु सन्त्वनूप्याः ।
शं नः खनित्रिमा आपः, शमु याः कुम्भ आभृताः,
शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥

२८. आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु,
घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीर् ,
उदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि ॥६॥

७. आनन्दमयं जीवनम्

२९. वसन्त इन्नु रन्त्यो,
ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो ,
हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥

३०. स्योना पृथिवि भव, अनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छा नः शर्म सप्रथः ॥

२६. ऋ. १०, ६, ७; २७. अ. १, ६, ४; २८. ऋ. १०, १७, १०;

२९. सा. ३, ४, २ = ६, ४, २; ३०. ऋ. १, २२, १५.

३१. भूमे मातर्निधेहि मा,

भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।

संविदाना दिवाऽकवे,

श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥

३२. स्वादो पितो मधो पितो, वयं त्वा ववृमहे ।

अस्माकमविता भव ॥

३३. उप नः पितवाचर,

शिवः शिवाभिरूतिभिः ।

मयोभुरद्विषेण्यः,

सखा सुशेवो अद्रयाः ॥७॥

८. क्षेत्र-देवस्य प्रसादनम्

३४. क्षेत्रस्य पतिना वयं,

हितेनेव जयामसि ।

गामश्वं पोषयित्वा,

स नो मृळातीदृशे ॥

३१. अ. १२, १, ६३; ३२. ऋ. १, १८७, २; ३३. ऋ. १,

१८७, ३; ३४. ऋ. ४, ५७, १.

३५. क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं,
धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्च ।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतम् ,
ऋतस्य न पतयो मृळयन्तु ॥

३६. मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो,
मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम् ।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान् नो अस्तु,
अरिण्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥

३७. अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्य् ,
अनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्र-प्र दातारं तारिषः),
ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥८॥

६. अभयस्याऽभिलाषा

३८. नमस्ते अस्तु विद्युते,
नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते भगवन्नस्तु,
यतः स्वः समीहसे ॥

३५. ऋ. ४, ५७, २; ३६. ऋ. ४, ५७, ३; ३७. य. ११, ८३;

३८. य. ३६, २१.

३९. यतो यतः समीहसे,
ततो नो अ॒भयं कुरु ।

शं नः कुरु प्रजाभ्यो,
ऽभयं नः पशुभ्यः ॥

४०. अ॒भयं नः करत्यन्नरि॒क्षम्,
अ॒भयं द्यावापृथिवी उ॒भे इमे ।
अ॒भयं पश्चाद॒भयं पुरस्ताद्,
उत्त॒रादध॒राद॒भयं नो अस्तु ॥

४१. अ॒भयं मि॒त्राद॒भयममि॒त्राद्,
अ॒भयं ज्ञा॒ताद॒भयं पुरो यः ।
अ॒भयं न॒क्तम॒भयं दि॒वा नः,
स॒र्वा आ॒शा म॒म मि॒त्रं भवन्तु ॥

४२. अ॒भयं द्यावापृथिवी इहास्तु नो,
ऽभयं सोमः सवि॒ता नः कृ॒णोतु ।
अ॒भयं नोऽस्तूर्ध्वन्त॒रि॒क्षं,
सप्त॒क्र॒षीणां च हवि॒षाभयं नो अस्तु ॥

४३. अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्रः(ः),
 ऊर्जं सुभृतं स्वस्ति सविता नः कृणोत ।
 अशत्र्विन्द्रो अभयं नः कृणोत्व,
 अन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः ॥९॥

१०. शत्रु-शमनं शक्तिप्रसादनम्

४४. अनमित्रं नो अधराद्,
 अनमित्रं न उत्तरात् ।
 इन्द्रानमित्रं नः पश्चाद्-
 अनमित्रं पुरस्कृधि ॥

४५. यत् इन्द्र भयामहे,
 ततो नो अभयं कृधि ।
 मघवंछगिध तव त्वं न ऊतिभिर्,
 वि द्विषो वि मृधो जहि ॥

४६. इन्द्रं वयमनूराधं हवामहे,
 ऽनुराध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा ।
 मा नः सेना अररूपीरुपगुर्,
 विषूचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय ॥

४३. अ. ६, ४०, २; ४४. अ. ६, ४०, ३; ४५. अ. १६,
 १५, १; ४६. अ. १६, १५, २.

४७. इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा,
 परस्पानो वरेण्यः ।
 स रक्षिता चरमनः स मध्यतः,
 स पश्चात् स पुरस्ताच्चो अस्तु ॥

४८. उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान-त्,
 स्वर्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
 उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहु,
 उप क्षयेम शरणा बृहन्ता ॥ १०॥

११. ऐश्वर्य-देवस्य प्रातः-प्रसादनम्

४९. प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे,
 प्रातमित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
 प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं,
 प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥

५०. प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे,
 वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
 आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्,
 राजा चिद्यं भगं भक्षत्याह ॥

५१. भग प्रणेतर भग सत्यराधो,
 भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
 भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्,
 भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥

५२. उतेदानीं भगवन्तः स्याम,
 उत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
 उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य,
 वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥

५३. भग एव भगवाँ अस्तु देवस्,
 तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
 तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि,
 स नो भग पुरएता भवेह ॥

५४. समध्वरायोषसो नमन्त,
 दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
 अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे,
 रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥

५५. अ॒श्वावतीर्गो॒मतीर्न॑ उ॒षा॒सो,
 वी॒र॒वतीः॑ स॒दमु॒च्छन्तु॑ भ॒द्राः ।
 घृ॒तं दु॒हाना॑ वि॒श्वतः॑ प्र॒पीता,
 यू॒यं पा॒त स्व॒स्तिभिः॑ स॒दा नः॑ ॥११॥

१२. उपोदे॒वता॒याः शु॒भा॒ग॒म॒नम्

५६. आ॒ या॒हि व॒नसा॑ सह ।
 गा॒वः स॒चन्त॑ वर्त॒निं य॒दू॒धभिः॑ ॥

५७. उ॒षा अ॒प स्व॒सुस्त॑मः,
 सं॒ वर्त॑यति वर्त॒निं सु॒जात॑ता ।
 अ॒या वा॒जं दे॒व॒हितं॑ स॒नेम॑,
 म॒देम॑ श॒त॒हिमाः॑ सु॒वीराः॑ ॥१२॥

१३. सूर्य॑दे॒वस्य॑ शु॒भो॒दयः॑

५८. उ॒द व॒यं त॒मस॑स्प॒रि,
 ज्यो॒तिष्प॒श्यन्त॑ उ॒त्तर॑म् ।
 दे॒वं दे॒व॒त्रा सूर्य॑म्,
 अ॒ग॒न्म ज्यो॒तिरु॒त्तम॑म् ॥

५९. उद्यन्नद्य मित्रमह,
आरोहन्नुत्तरां दिवम् ।
हृद्रोगं मम सूर्य,
हरिमाणं च नाशय ॥

६०. उदगाद् अयमादित्यो,
विश्वेन सहसा सह ।
द्विषन्तं मम रन्ध्रयन्,
मो अहं द्विषते रघम् ॥

६१. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतम्,
शृणुयाम शरदः शतं, प्र ब्रवाम शरदः शतम्,
अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः
शतात् ॥ १३ ॥

१४. सवितृ-देवस्य प्रसादनम्

६२. तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

६३. देवस्य सवितुर्वयं, वाजयन्तः पुरन्त्या ।
भगस्य रातिमीमहे ॥

५९. ऋ. १, ५०, ११; ६०. ऋ. १, ५०, १३; ६१. य. ३६ २४;

६२. ऋ. ३, ६२, १०; ६३. ऋ. ३, ६२, ११.

६४. तत् सवितुर्वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनम् ।

श्रेष्ठं सर्वधातमं, तुरं भगस्य धीमहि ॥

६५. अद्या नो देव सवितः, प्रजावत् सावीः सौभगम् ।

परा दुःष्वप्यं सुव ॥

६६. विश्वानि देव सवितर्, दुरितानि पुरासुव ।

यद् भद्रं तन्न आसुव ॥१४॥

१५. अग्नि-देवस्य प्रसादनम्

६७. रात्रिं रात्रिमप्रयातं भरन्तो,

ऽश्वायेव तिष्ठते वासुमस्मै ।

रायस्पोषेण समिषा मदन्तो,

मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥

६८. या ते वसोर्वात इषुः,

सा त एषा तया नो मृड ।

रायस्पोषेण समिषा मदन्तो,

मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥

६४. ऋ. ५, ८२, १; ६५. ऋ. ५, ८२, ४; ६६. ५, ८२, ५;

६७. म. १६, ५५, १; ६८. म. १६, ५५, २.

६९. सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः,
 प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता ।
 नसोर्वसोर्वसुदा न एधि,
 वयं त्वेन्धानास्तन्वै पुषेम ॥
७०. प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः,
 सायं सायं सौमनसस्य दाता ।
 वसोर्वसोर्वसुदा न एधि,
 इन्धानास्त्वा शतहिमा ऋधेम ॥
७१. अपश्वादग्धान्नस्य भूयासम् । अच्चादायान्नपतये,
 रुद्राय नमो अग्नये ॥
७२. सभ्यः सभां मे पाहि, ये च सभ्याः सभासुदः ।
 त्वमिन्द्राः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवत ॥
७३. अहरहर्बलिमित्ते हरन्तो ,
 ऽश्वायेव तिष्ठते वासुमग्ने ।
 रायस्पोषेण समिषा मदन्तो,
 मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥१५॥

१६. मृत्युञ्जयो मन्त्रः

७४. त्र्यम्बकं यजामहे ,
सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनाद् ,
मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥१६॥

१७. सरस्वती-देव्याः प्रसादनम्

७५. पावका नः सरस्वती, वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥
७६. चोदयित्री स्रुतानां, चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥
७७. महो अर्णः सरस्वती, प्रचेतयति केतुना ।
धियो विश्वा विराजति ॥
७८. शिवा नः शंतमा भव, सुमृडीका सरस्वति ।
मा ते युयोम सदृशः ॥

७९. यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर,
यो रत्नधा वसुविद्यः सुदन्नः ।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि,
सरस्वति तमिह धातवे कः ॥

८०. सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते,
सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त,
सरस्वती दाशुषे वार्यं दातु ॥

८१. यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे,
यद्याचमानस्य चरतो जनां अनु ।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं,
सरस्वती तदा पृणद् घृतेन ॥१७॥

१८. वाचस्पति-देवस्य प्रसादनम्

८२. ये त्रिषप्ताः परियन्ति,
विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्वला तेषां,
तन्वो अद्य दधातु मे ॥

८३. पुनरेहि वाचस्पते, देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते नि रमये, मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥

८४. इहवाभि वितनू(नु- ,
-उ)भे आर्क्षी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु ,
मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥

८५. उपहूतो वाचस्पतिर् ,
उपास्मान् वाचस्पतिर्हयताम् ।
सं श्रुतेन गमेमहि ,
मा श्रुतेन वि राधिषि ॥

८६. वाचस्पतिं विश्वकर्माणमृतये,
मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद् ,
विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥१८॥

१६. विद्यायां प्रीति-प्रकर्षः

८७. यदग्ने तपसा तप,
उपतप्यामहे तपः ।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मा,
ऽऽयुष्मन्तः सुमेधसः ॥

८८. अग्ने तपस्तप्यामह ,
उपतप्यामहे तपः ।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयम् ,
आयुष्मन्तः सुमेधसः ॥

८९. क्रुचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये ,
साम प्राणं प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये ।
वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥

९०. यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस ,
यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।
यदश्रवन् पशव उद्यमानं ,
तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥

८७. अ. ७, ६१, १; द्द. अ. ७, ६१, २; द्द. य. ३६, १;

८८. अ. ७, ६६, १.

९१. पुनर् मैत्विन्द्रियं,
 पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
 पुनरग्नयो धिष्ण्या ,
 यथास्थाम् कल्पयन्तामिहैव ॥१९॥

२०. मेधा-देव्याः प्रसादनम्

९२. त्वं नो मेघे प्रथमा,
 गोभिरश्वेभिर् आगहि ।
 त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस् ,
 त्वं नो असि यज्ञिया ॥

९३. मेघामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं,
 ब्रह्मजूतामृषिष्ठुताम् ।
 प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर् ,
 देवानामवसे हुवे ॥

९४. यां मेघामृभवो विदुर् ,
 यां मेघामसुरा विदुः ।
 ऋषयो भद्रां मेघां यां विदुस् ,
 तां मय्यावेशयामसि ॥

९५. यामृषयो भूतकृतो,
मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधया,
ऽग्ने मेधाविनं कृणु ॥

९६. मेधां सायं मेधां प्रातर्,
मेधां मध्यन्दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्,
वचसा वेशयामहे ॥

९७. द्यौश्च म इदं पृथिवी चा,
ऽन्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां,
विश्वे देवाश्च संददुः ॥२८॥

२१. आकूति-देव्याः प्रसादनम्
९८. आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे,
चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु,
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु,
विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥

६६. आकूत्या नो बृहस्पत,
 आकूत्या न उपागहि ।
 अथो भगस्य नो धेहि,
 अथो नः सुहवो भव ॥

१००. मनसः काममाकूतिं,
 वाचः सत्यमशीय ।
 पशूनां रूपमन्नस्य रसो यशः,
 श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥

१०१. मह्यं यजन्तु मम यानि हव्या,
 ऽऽकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु ।
 एनो मा नि गां कतमच्चनाहं,
 विश्वे देवासो अधि वोचता नः ॥२१॥

२२. बलस्य कामना

१०२. वाजस्य नु प्रसवे मातरं महाम्-
 अदितिं नाम वृचसा करामहे ।
 यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश,
 तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ॥

१०३. विश्वे अद्य मरुतो विश्वे ऊती,
 विश्वे भवन्त्यग्नयः समिद्धाः ।
 विश्वे नो देवा अवसाऽऽगमन्तु,
 विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे ॥

१०४. वाजो नः सप्त प्रदिशश्,
 चतस्रो वा परावतः ।
 वाजो नो विश्वैर्देवैर्,
 धनसाताविहावतु ॥

१०५. वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं,
 वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति ।
 वाजो हि मा सर्ववीरं जजान,
 विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥

१०६. वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो,
 वाजो देवान् हविषा वर्धयाति ।
 वाजो हि मा सर्ववीरं चकार,
 सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥

१०७. सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः,

सं मा सृजाम्यद्विरोषधीभिः ।

सोऽहं वाजं सनेयमग्ने ॥

१०८. पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु,

पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः ।

पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥२२॥

२३. आत्मोत्साहनम्

१०९. इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् ,

भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम् ।

त्रयस्त्रिंशद्यानि च वीर्याणि,

तान्यग्निः प्र ददातु मे ॥

११०. सूर्यो मे चक्षुर्वीर्यः प्राणो,

ऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।

अस्तृतो नामाहमयमस्मि ,

स आत्मानं निदधे ,

द्यावापृथिवीभ्यां गोपीधाय ॥

१११. ए॒धोऽस्ये॒धिषी॒महि, समि॒दसि ते॒जोऽसि ।
ते॒जो म॒यि धेहि ॥

११२. या॒वती द्या॒वापृथि॒वी ,
यावच्च सप्त॒ सिन्ध॒वो वित॒स्थिरे ।
ता॒वन्तमिन्द्र ते गृ॒हम् ,
ऊ॒र्जा गृ॒ह्णाम्य॒क्षितम् ,
म॒यि गृ॒ह्णाम्य॒क्षितम् ॥

११३. म॒यि त्य॒दिन्द्रि॒यं बृ॒हन् ,
म॒यि द॒क्षो म॒यि क्र॒तुः ।
ध॒र्मस्त्रि॒शुवि॒राजति ,
वि॒राजा ज्यो॒तिषा सह ,
ब्र॒ह्मणा ते॒जसा सह ॥२३॥

२४. स्वास्थ्य-समुद्गावनम्

११४. अ॒युतोऽह॒मयु॒तो म आ॒त्मा,
ऽयु॒तं मे चक्षु॒रयु॒तं मे श्रो॒त्रम् ,
अ॒युतो मे प्रा॒णोऽयु॒तो मेऽपा॒नो,
ऽयु॒तो मे व्या॒नोऽयु॒तोऽहं स॒र्वः ॥

११५. वाङ् म आसन्नसोः प्राणश् ,
 चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
 अपलिताः केशा अशोणा दन्ता,
 बहु बाहोर्बलम् ॥

११६. उर्वोरोजो जङ्घयोर् ,
 जवः पादयोः प्रतिष्ठा ।
 अरिष्ठानि (मेऽङ्गानि) ,
 सर्वाऽऽत्मा (ऽतिपुष्टः) ॥

११७. यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य,
 मनसो वाऽतितृण्णम् ।
 बृहस्पतिर्मे तदधातु ,
 शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

११८. वर्म मे द्यावापृथिवी,
 वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
 वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च,
 वर्म धाता दधातु मे ॥

११५. अ. १६, ६०, १; ११६. अ. १६, ६०, २ (सोषित);
 ११७. य. ३६, २; ११८. अ. ८, ५, १८.

११९. असपत्नं नो अधराद् ,
 असपत्नं न उत्तरात् ।
 इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज् ,
 ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥

१२०. बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चाद् ,
 उतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
 इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः ,
 सुखा सुखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥२४॥
 २५. उत्साह-प्रवाहः

१२१. ममाग्ने वर्चो विहवेष्वास्तु ,
 वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।
 मय्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस् ,
 त्वयाऽध्यक्षेण पूतना जयेम ॥

१२२. मम देवा विहवे सन्तु सर्व ,
 इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः ।
 ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु ,
 मय्यं वातः पवतां कामे अस्मिन् ॥

११६. अ. ८, ५, १७; १२०. अ. १०, ४२, ११; १२१. अ.

१०, १८, १; १२२. अ. १०, १२८, २.

१२३. अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषां,
 त्वं नो गोपाः परिपाहि विश्वतः ।
 अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवो,
 ऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ॥

१२४. दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत,
 विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।
 मा नो विददभिभा मो अशस्तिर,
 मा नो विदद्वृजिना द्वेष्ट्या या ॥२५॥

२६. तेजसः कामना

१२५. सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ,
 त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सुर्ये या ।
 इन्द्रं या देवी सुभगा जज्ञान,
 सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥

१२६. या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये,
 त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु ।
 इन्द्रं या देवी सुभगा जज्ञान,
 सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥

१२३. अ. ५, ३, २; १२४. अ. ५, ३, ६; १२५. अ. ६,
 ३८, १. १२६; शौ. ६, ३८, २.

१२७. रथे अक्षेष्टृषभस्य वाजे,
वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान,
सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥

१२८. राजन्ये दुन्दुभावायतायाम्,
अश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान,
सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥२६॥

२७. हस्ति-वर्चसः कामना

१२९. हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशो,
अदित्या यत्तन्वः संबभूव ।
तत्सर्वे समदुर्मह्यमेतद्,
विश्वे देवा अदितिः सज्जोषाः ॥

१३०. मित्रश्च वरुणश्च,
इन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।
देवासो विश्वधायसस्,
ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥

१३१. येन हस्ती वर्चसा संवभुव ,
 येन राजा मनुष्येष्वर्ष्वन्तः ।
 येन देवा देवतामग्र आयन् ,
 तेन मामद्य वर्चसा ,
 ऽग्ने वर्चस्विनं कुरु ॥

१३२. युक्ते वर्चो जातवेदो , बृहद्भवत्याहुतेः ।
 यावत्सूर्यस्य वर्चः, आसुरस्य च हस्तिनः ।
 तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥

१३३. यावच्चतस्रः प्रदिशश् ,
 चक्षुर्यावत्समश्नुते ।
 तावत्समैत्विन्द्रियं ,
 मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥

१३४. हस्ती मृगाणां सुषदाम् ,
 अतिष्ठावान्वभुव हि ।
 तस्य भुगेन वर्चसा ,
 ऽभिषिञ्चामि मामहम् ॥२७॥

२८. मधुर-प्रभावुकं जीवनम्

१३५. यद् वदामि मधुमत् तद्वदामि,
यदीक्षे तद् वनन्ति मा ॥

त्विषीमानस्मि जूतिमान्,
अवान्यान् हन्मि द्रोधतः ॥

१३६. अश्विना सारघेण मा,
मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा भर्गस्वतीं चाचम्,
आवदानि जनाँ अचु ॥

१३७. मयि वर्चो अथो यशो,
ऽथो यज्ञस्य यत्पयः ॥
तन्मयि प्रजापतिर्,
दिवि द्यामिब दंहतु ॥

१३८. यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वात्,
यथापओषधीषु यशस्वतीः ॥
एवा विश्वेषु देवेषु,
वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥

१३९. यशा इन्द्रो यशा अग्निर्,
 यशाः सोमो अजायत ।
 यशा विश्वस्य भूतस्या,
 ऽहमस्मि यशस्तमः ॥२८॥

२६. मधुरं जीवनम्
 १४०. मधु जनिषीय ,
 मधु वंशिषीय ।
 पयस्वानग्न आगमं,
 तं मा संसृज वर्चसा ॥

१४१. सं माग्ने वर्चसा सृज,
 सं प्रजया समायुषा ।
 विद्युर्मे अस्य देवा,
 इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः ॥

१४२. यथा मधु मधुकृतः,
 सम्भरन्ति मधावधि ।
 एवा मे अश्विना वर्च,
 आत्मनि ध्रियताम् ॥

१४३. यथा मत्ता इदं मधु,
न्यञ्जन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्चस् ,
तेजो बलमोजश्च ध्रियताम् ॥

१४४. यद्गिरिषु पर्वतेषु ,
गोष्वश्वेषु यन्मधु ।
सुरायां सिच्यमानायां,
यत्तत्र मधु तन्मयि ॥२९॥

३०. सम्पुष्टं जीवनम्

१४५. सं संस्रवन्तु सिन्धवः,
सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां,
सं स्राव्येण हविषा जुहोमि ॥

१४६. इहैव हवमायात म इह सं-
स्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुर् ,
अस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥

१४७. ये नदीनां संस्रवन्ति,

उत्सासः सदमक्षिताः ।

तेभिर्मे स्रवैः संस्त्रावैर्,

धनं संस्त्रावयामसि ॥

१४८. ये सर्पिषः संस्रवन्ति,

क्षीरस्य चोदकस्य च ।

तेभिः मे स्रवैः संस्त्रावैर्,

धनं संस्त्रावयामसि ॥

१४९. रूपं-रूपं वयो-वयः,

सरभ्यैनं परिष्वजे ।

यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु,

संस्त्राव्येण हविषा जुहोमि ॥३०॥

३१. पवित्रं जीवनम्

१५०. यत् ते पवित्रमर्चिषि, अग्ने विततमन्तरा ।

ब्रह्म तेन पुनीहि नः ॥

१४७. अ. १, १५, २; १४८. अ. १, १५, ४; १४९. अ. १९,

१, ३; १५०. ऋ. ६, ६७, २३.

१५१. पुनन्तु मा देवजनाः,
पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि,
पवमानः पुनातु मा ॥

१५२. पवमानः पुनातु मा, कृत्वे दत्ताय जीवसे ।
अथो अरिष्टतातये ॥

१५३. उभाभ्यां देव सवितः, पवित्रेण सवेन च ।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥३१॥

३२. शिव-संकल्पः

१५४. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं,
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

१५५. येन कर्माण्यपसो मनीषिणो,
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तुः प्रजानां,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

१५६. यत्प्रज्ञानमुत् चेतो धृतिश्च,
 यज्ज्योतिरन्तरमुतं प्रज्ञासु ।
 यस्मान्न कृते किं च न कर्म क्रियते,
 तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

१५७. येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्,
 परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
 येन यज्ञस्तायते सप्तहोता,
 तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

१५८. यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्,
 प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाः ।
 यस्मिंश्चित् ॐ सर्वमोतं प्रजानां,
 तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

१५९. सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्,
 नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
 हत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं,
 तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३२॥

१५६. य. ३४, ३; १५७. य. ३४, ४; १५८. य. ३४, ५;

१५९. य. ३४, ६.

३३. पाप निर्मोक्षणम्

१६०. यदेवा देवहेडनं ,
देवासश् चकृमा वयम् ।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयम् ,
ऋतस्यर्तेन मुञ्चत ॥

१६१. ऋतस्यर्तेनादित्या ,
यजत्रा मुञ्चतेह नः ।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः,
शिक्षन्तो नोपशेकिम् ॥

१६२. यद्विद्वांसो यद्विद्वांस,
एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत ,
विश्वे देवाः सजोषसः ॥

१६३. यदि जाग्रद्यदि स्वपन्-न् ,
एन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद्भव्यं च,
द्रुपदाद् इव मुञ्चताम् ॥

१६४. द्रुपदाद् इव मुमुचान्ः,

स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।

पूतं पवित्रेणैवाज्यं,

विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥३३॥

३४. पापात्-संरक्षणम्

१६५. यदस्मृति चकृम किं चिदग्न,

उपारिम चरणे जातवेदः ।

ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः,

शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥

१६६. यच्चिद्धि ते विशो यथा, प्र देव वरुण व्रतम् ।

मिनीमसि द्यविद्यावि ॥

१६७. मा नो वधाय हन्तुवे, जिहीळानस्य रीरधः ।

मा हृणानस्य मन्युवे ॥

१६८. यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जने,

ऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।

अचित्त्वा चेत्तव धर्मा युयोपिम,

मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥

१६९. मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये,
तनूपा ये नस्तन्वास्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्या अभि नः सचध्वम् ,
आयुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥३४॥]

३५. सुसंस्कार-प्रबोधनम्

१७०. अग्ने त्वं सु जागृहि,
वयं सु मन्दिषीमहि ।
रक्षा णो अग्रयुच्छन् ,
प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥

१७१. पर्यावर्ते दुष्वप्यात् ,
पापात्स्वप्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे ,
परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥

१७२. अपेहि मनसस्पते ,
ऽपक्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व ,
बहुधा जीवतो मनः ॥

१६६. अ. ६, ४१, ३; १७०. य. ४, १४; १७१. अ. ७,

१००, १; १७२. ऋ. १०, १६४, १.

१७३. भट्रं वै वरं वृणते,
 भट्रं युअन्ति दक्षिणम् ।
 भट्रं वैवस्वते चक्षुर्,
 बहुत्रा जीवतो मनः ॥

१७४. यदाशसा निःशसाभिःसा,
 उपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
 अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतानि,
 अजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥३५॥

३६. यज्ञमय-जीवनस्य साफल्यम्

१७५. उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते,
 देवान् यज्ञेन बोधय ।
 आयुः प्राणं प्रजां पशून्,
 कीर्त्तिं यजमानं च वर्धय ॥

१७३. ऋ. १०, १६४, २; १७४. ऋ. १०, १६४, ३;
 १७५. अ. १६, ६३, १.

१७६. वाजश्च मे प्रसवश्च मे,
 प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे,
 धीतिश्च मे क्रतुश्च मे,
 स्वरश्च मे श्लोकश्च मे,
 श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे,
 ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१७७. प्राणश्च मेऽपानश्च मे,
 व्यानश्च मेऽसुश्च मे,
 चित्तं च म आधीतं च मे,
 वाक् च मे मनश्च मे,
 चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे,
 दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१७८. ओजश्च मे सहश्च म,
 आत्मा च मे तनुश्च मे,
 शर्म च मे वर्म च मे,
 ऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे,
 परूषि च मे शरीराणि च म,
 आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१७९. ज्यैष्ठ्यं च मे आधिपत्यं च मे,
 मन्युश्च मे भ्रामश्च मे,
 ऽमश्च मेऽम्भश्च मे,
 जेमा च मे महिमा च मे,
 वरिमा च मे प्रथिमा च मे,
 वर्षिमा च मे द्राधिमा च मे,
 वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८०. सत्यं च मे श्रद्धा च मे,
 जगच्च मे धनं च मे,
 विश्वं च मे महश्च मे,
 क्रीडा च मे मोदश्च मे,
 जातं च मे जनिष्यमाणं च मे,
 सृक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८१. ऋतं च मेऽसृतं च मे,
 ऽयत्सुं च मेऽनामयञ्च मे,
 जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मे,
 ऽनमित्रं च मेऽभयं च मे,
 सुखं च मे शयनं च मे,
 सृषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८२. यन्ता च मे धर्ता च मे,
 ज्ञेमश्च मे धृतिश्च मे,
 विश्वं च मे महश्च मे,
 संविच्च मे ज्ञानं च मे,
 सूरश्च मे प्रसूरश्च मे,
 सीरं च मे लुयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८३. शं च मे मयश्च मे,
 प्रियं च मेऽनुकामश्च मे, ।
 कामश्च मे सौमनसश्च मे,
 भृगश्च मे द्रविणं च मे ।
 भट्टं च मे श्रेयश्च मे,
 वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८४. ऊर्कं च मे सनुता च मे,
 पयश्च मे रसश्च मे,
 घृतं च मे मधु च मे,
 सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे ॥
 कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे,
 जैत्रं च मे औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८५. रायिश्च मे रायश्च मे,
 पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे,
 विभु च मे प्रभु च मे,
 पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे ।
 कुयवं च मेऽन्नितं च मे,
 ऽन्नं च मेऽक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८६. वित्तं च मे वेद्यं च मे,
 भूतं च मे भविष्यच्च मे ।
 सुगं च मे सुपथ्यं च मे,
 क्रद्धं च मे ऋद्धिश्च मे,
 कलृप्तं च मे कलृप्तिश्च मे,
 मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८७. व्रीहियश्च मे यवाश्च मे,
 माषाश्च मे तिलाश्च मे ।
 मुदगाश्च मे खल्वाश्च मे,
 प्रियङ्ग्वश्च मेऽणवश्च मे ।
 श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे,
 गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८८. अश्मा च मे मृत्तिका च मे,
 गिर्यश्च मे पर्वताश्च मे ।
 सिक्ताश्च मे वनस्पतयश्च मे,
 हिरण्यं च मेऽयश्च मे,
 श्यामं च मे लोहं च मे,
 सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८९. अग्निश्च म आपश्च मे,
 वीरुधश्च म ओषधयश्च मे,
 कृष्टपच्यश्च मेऽकृष्टपच्यश्च मे,
 ग्राम्याश्च मे पशव आरण्याश्च मे,
 वित्तं च मे वित्तिश्च मे,
 भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१९०. वसु च मे वसतिश्च मे,
 कर्म च मे शक्तिश्च म ,
 र्थश्च म एमश्च म,
 इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥३६॥

३७. संजीवनम्

१६१. न्यग् वातोऽव वाति,
न्यक् तपति सूर्यः ।

नीचीनमध्न्या दुहे ,
न्यग् भवतु ते रूपः ॥

१९२. अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥

१९३. उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥

१९४. द्वाविमौ वातौ वात,
आ सिन्धोरा परावतः ।
दत्तं ते अन्य आ वातु,
परान्यो वातु यद्रपः ॥

१९५. आ त एतु मनः पुनः, क्रत्वे दत्ताय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्य दृशे ॥

१९६. अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ॥३७॥

३८. मृत्यु-निवारणम्

१९७. अयं लोकः प्रियतमो,
देवानामपराजितः ।

यस्मै त्वमिह मृत्यवे,
दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ॥

स च त्वानु हयामसि,
मा पुरा जरसो मृथाः ॥

१९८. संक्रामतां मा जहीतां शरीरं,
प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।

शतं जीव शरदो वर्धमानो,
ऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥

१९९. आयुर्यत्ने अतिहितं पराचैर्,
अपानः प्राणः पुनरा ताविताम् ।

अग्निष्टदाहानिर्ऋतेरुपस्थात्,
तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥

१९६. अ. ५, ३०, ७; १९७. अ. ५, ३०, १७; १९८. अ. ७,

५३, २; १९९. अ. ७, ५३, ३.

२००. मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो

ऽवहाय पुरा गान् ।

सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि,

त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥

२०१. प्र विशतं प्राणापानाव्,

अनद्वाहाविव व्रजम् ।

अयं जरिम्णः शेवधिर्,

अरिष्ट इह वर्धताम् ॥

२०२. आ ते प्राणं सुवामसि,

पुरा युद्धं सुवामि ते ।

आयुर्नो विश्वतो दधद्,

अयम् अग्निर् वरेण्यः ॥

२०३. व्यवात् ते ज्योतिरभूद्,

अप त्वत्तमो अक्रमीत् ।

अप त्वन्मृत्युं निर्क्रतिम्,

अप युद्धं नि दध्मसि ॥३८॥

३६. पुनर्-जीवनम्

२०४. शतं जीव शरदो वर्धमानः,

शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।

शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः,

शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥

२०५. आहार्षं त्वाऽविदं त्वा,

पुनरागाः पुनर्नव ।

सर्वाङ्गं सर्वं ते चक्षुः,

सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥

२०६. अङ्गादङ्गाल लोमो लोमो,

जातं पर्वणि पर्वणि ।

यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्,

तमिदं वि ब्रूहामि ते ॥

२०७. आरभस्वेमाममृतस्य श्रुष्टिम्,

अच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते ।

असुं त आयुः पुनराभरामि,

रजस्तमो मोष गा मा प्रमेष्टाः ॥

२०४. ऋ. १०, १६१, ४; २०५. ऋ. १०, १६१, ५;

२०६. ऋ. १०, १६३, ६; २०७. अ. ८, २, १

२०८. जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ् ,
 आ त्वा हरामि शतशारदाय ।
 अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्ति,
 द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥ ३६ ॥

४०. प्राण-प्रत्यास्थापनम्

२०९. वातात्ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव ।
 यत् ते मनस् त्वयि तद् धारयामि,
 सं वित्स्वाऽङ्गैर्वद जिह्याऽङ्गैर्लपन् ॥

२१०. अयं जीवतु मा मृते(त,
 इ)मं समीरयामसि ।
 कृणोम्य् अस्मै भेषजं,
 मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥

२११. अस्मै मृत्यो अधि ब्रूही(हि,
 इ)मं दयस्वोदितोऽयमेतु ।
 अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन,
 आत्मना भुजम् अश्नुताम् ॥

२०८. अ. ८, २, २; २०९. अ. ८, २, ३; २१०. अ. ८, २, ५;

२११. अ. ८, २, ८.

२१२. शं ते सूर्य आ तपतु,
शं वातो वातु ते हृदे ।

शिवा अभि क्षरन्तु त्वा,
ऽऽपो दिव्याः पर्यस्वतीः ॥

२१३. शिवास्ते सन्त्वोषधय, उत्त्वाहार्षमधरस्या,
उत्तरां पृथिवीमभि । तत्र त्वादित्यौ रक्षतां,
सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥

२१४. यदश्नासि यत्पिबसि,
धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं यदनाद्यं ,
सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥

२१५. शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय,
ग्रीष्माय परि दक्षसि ।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि,
येषु वर्धन्त ओषधीः ॥४०॥

४१. जीवनाशीः

२१६. मृत्योः पदं योपयन्तो यद्वैत,
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।

आप्यायमाना प्रजया धनेन,
शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥

२१७. इमे जीवा वि मृतेराववृत्रन्,
अभूद् भद्रा देवहृतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय,
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥

२१८. यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति,
यथ क्रतुव क्रतुभिर्यन्ति साधु ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्ये(ति,
ए)वा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥४१॥

४२. साध्यानुप्रशंसा

२१९. सर्वो वै तत्र जीवति,
गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते,
परिधिर् जीवनाय कम् ॥

२१६. ऋ. १०, १८, २; २१७. ऋ. १०, १८, ३; २१८. ऋ.

१०, १८, ४ २१९. अ. ८, २, २५;

२२०. आगादुदगादयं,

जीवानां व्रातमप्यगात् ।

अभूदु पुत्राणां पिता,

नृणां च भगवत्तमः ॥

२२१. सूरिरसि वर्चोधा,

असि तनूपानोऽसि ।

आप्नुहि श्रेयांसम्,

अति समं काम ॥

२२२. शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि,

स्वरसि ज्योतिरसि ।

अप्नुहि श्रेयांसम्,

अति समं काम ॥४२॥

४३. साध्य-संव्यापनम्

२२३. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् ।

आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महा-रथो जायताम् ।

दोग्ध्री धेनुर्, वोढाऽनड्वान्, आशुः सप्तिः,
पुरन्धिर्योषा, जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य
यजमानस्य वीरो जायताम् ।

निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ।

फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ।

योग-क्षेमो नः कल्पताम् ॥४३॥

अस्मिन् संग्रहे भद्रे, साधिते विश्वबन्धुना ।

वेदसारे गतः खण्डः, प्रथमः साध्य-दर्शनः ॥१॥

विशिष्ट सूक्तियाँ

१. अ॒दीनाः स्याम शर॒दः शत॑म् ॥६१॥ य ३६, २४.
हम सौ वर्ष तक अ॒दीन (बन कर) रहें ।

२. अनु॒व्रतः पुन॑रेहि विद्वानु॒दयनं पथः ॥१९६॥

अ ५, ३०, ७.

तुम (मौत की ओर क्यों जा रहे हो ?), मैं तुम्हें पीछे बुला रहा हूँ। वापिस लौटो। जीने जागने के मार्ग को पहचानने वाले (बनो)।

३. अ॒न्नपतेऽन्नस्य॑ नो देहि ॥३७॥

य ११, ८३.

हे अन्नपालक देव ! हमें अन्न देते रहो ।

४. अ॒पश्चाद॑ग्धाऽन्नस्य॑ भूयासम् ॥७१॥

अ १९, ५५, ५.

मैं अन्न पाने में पीछे पहुँचने वाला न होऊँ ।

५. अ॒पाञ्चो यन्तु॑ निव॒ता दुर॑स्य॒वः ॥१२३॥

अ ५, ३, २.

हमारी हानि चाहने वाले नीचे धकेले जा कर दूर भागें ।

६. अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ॥१९७॥

अ ५, ३७, १७.

यह लोक देवताओं का प्यारा है। यहां पराजय का क्या काम ?

७. अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः ॥१९८॥

ऋ १०, ६०, १२.

(देखो), यह मेरा हाथ शक्तिशाली है। (देखो) यह मेरा दूसरा हाथ और भी बढ़ कर शक्तिशाली है।

८. अयुतोऽहमयुतो मे आत्मा ॥१९९॥

अ १९, ५१, १.

मैं अ-हीन हूं। मेरा शरीर अ-हीन है।

९. अरिष्टानि (मेऽङ्गानि) सर्वात्मा (अतिपुष्टः) ॥१९६॥

अ १९, ६०, २.

मेरे सब अङ्ग ठीक हों। मेरा शरीर अतिपुष्ट हो।

१०. अरिष्यन्तो अन्वेनं (क्षेत्रस्य पतिम्) चरेम ॥२००॥

ऋ ४, ५७, ३.

हम इस (क्षेत्रपति देव) की भक्ति में लगे रहें और दुःख से बचे रहें।

११. अहमस्मि यज्ञस्तमः ॥२०१॥

अ ६, ५८, ३.

मैं सब से बढ़ कर महिमा वाला हो रहा हूं।

१२. आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु ॥२०२॥

ऋ १७, १२८, ४.

मेरे मन की भावना पूर्ण हो।

१३. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ॥१॥

ऋ १, ८९, १.

हमें सब ओर से भली भावनाएं मिलें ।

१४. आपः पृणीत भेषजं, वरूथं तन्वे मम ॥२६॥

ऋ १०, ९, ७.

हे जलो ! तुम आओ, ताकि मेरे शरीर को स्वास्थ्यकारी संजीवन औषध मिले ।

१५. आप्नुहि धेयांसम् अति समं काम ॥२२१॥

अ २, ११, ४.

आओ, जिन के बराबर खड़े हो, तुम उन से आगे बढ़ो ।

आओ, जो तुम से आगे बढ़े हुए हैं, उन तक पहुंचने की करो ।

१६. आरे देवा देषो अस्मद् युयोन ॥१०॥

ऋ १०, ६३, १२.

हे देवताओ ! शत्रुता को हम से दूर करो ।

१७. उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥१९३॥

ऋ १०, १३७, १.

हे देवताओ ! क्या हुआ यदि (यह) कोई अपराध कर बैठा है । तुम (इसे) दुबारा जीवन प्रदान करो ।

१८. उतेदानीं भगवन्तः स्याम ॥५२॥ अ ३, १६, ४.

हे ऐश्वर्यशालिन् प्रभो ! हम अब भी (और, अन्य समयों में भी) भाग्यशाली हों ।

१९. एनो मा निगां कतमच्चन्नाऽहम् ॥१०१॥

ऋ १०, १२८, ४.

मैं कभी भी संकट में न पड़ूँ ।

२०. जीवतां ज्योतिरभ्येहर्वाङ् ॥२०८॥ अ ८, २, २.

आ, इधर जीतों के चांदने में आ ।

२१. ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥११९॥ अ ८, ५, १७.

हे वीर ! आगे हमें ज्योति प्रदान करो ।

२२. त्विषिः.....न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥१२५॥

अ ६, ३८, १.

स्वाभाविक शक्ति, तेज-पुञ्ज को साथ लिए हुए, हमें भी आकर कृतार्थ करे ।

२३. वृक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१७७॥

य १८, २.

मेरी क्षमता और मेरा बल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो ।

२४. देव सवितः.....परा दुष्पुण्यं सुव ॥६५॥

ऋ ५, ८२, ४.

हे सवितः देव ! (चिन्ता से पैदा होने वाली) निद्रा की विकलता हम से दूर रहे ।

२५. देव सवितः प्रजावत् सावीः सौभगम् ॥६१॥

ऋ ५, ८२, ४.

हे सवितः देव ! हमें प्रजा दे और (और साथ में) ऐश्वर्य (भी) दे ।

२६. देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम् ॥२॥

ऋ १, ८९, २.

हम ने देवताओं की मित्रता लाभ की है ।

२७. देवीं नावम् आरुहेमा स्वस्तये ॥८॥

ऋ १०, ६३, १०.

आओ, देवताओं की नौका पर चढ़ जाएं, ताकि जीवन सफल हो ।

२८. पृथिवि ! यच्छा नः शर्म सप्रथः ॥३०॥

ऋ १, २२, १५.

हे पृथिवि ! तू हमें विशाल मंगल प्रदान कर ।

२९. प्रचेतः ! शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥१६५॥

ऋ ७, १०६, १.

हे जाननहार ! हम आप के सखा ही तो हैं । इसलिए, आप का शासन हमारे लिए अवश्य शुभकारी होना चाहिए ।

३०. प्राञ्चो अगाम नृतये ह्रसाय ॥२१७॥

ऋ १०, १८, ३.

आओ, और आगे बढ़ें । आओ, नाचें और हँसें ।

३१. प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे ॥४९॥ अ ३, १६, १.

भोर हुए, हम अग्नि को, भोर हुए, हम इन्द्र को भजते हैं ।

३२. भगस्य रातिमीमहे ॥६३॥ ऋ ३, ६२, ११.

हम ऐश्वर्य की प्राप्ति करते हैं ।

३३. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः ॥३॥ ऋ १, ८९, ८.
हे देवताओं ! हम कानों से भला सुनें ।

३४. भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥३॥ ऋ १, ८९, ८.
हे पूजनीयो ! हम आंखों से भला देखें ।

३५. भूतं च मे भूतिश्च मे यजेन कल्पन्ताम् ॥१८९॥
य १८, १४.
मेरा ऐश्वर्य और मेरा वैभव यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो ।

३६. भूमे ! मातर्निधेहि मा ॥३१॥ अ १२, १, ६३.
हे भूमे ! तू मेरे प्रति माता के समान हो । मुझे भली प्रकार सुरक्षित रख ।

३७. सुदेम शतहिमाः सुवीराः ॥५७॥ अ १९, १२, १.
आओ, हम उत्तम बल-युक्त प्रजा-धन के स्वामी बनें और सौ बरस तक आनन्दित रहें ।

३८. मधु जनिषीय मधु वंशिषीय ॥१४०॥
अ ९, १, १४.
मैं मिठास को पैदा करूं । मैं मिठास को आगे बढ़ाऊं ।

३९. सुमाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु ॥१२१॥ ऋ १०, १२८, १.
हे अग्नि देव ! जोड़ की ललकारों में मेरे अन्दर चमक पैदा हो ।

४०. मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥८३॥ अ १, १, २.
मेरे विद्याभ्यास को मेरे अन्दर खूब प्रतिष्ठा प्राप्त होती रहे ।

४१. म॒ह्यं नमन्तां प्रदि॒शश्च॒तस्रः ॥१२१॥

ऋ १०, १२८, १.

चारों दिशाएँ हमारे आगे झुकने वाली हों ।

४२. मा ते अ॒ग्ने प्र॒तिवेशा रि॒शाम ॥६७॥

अ १९, ५५, १.

हे अग्ने ! हम तुम्हारे समीप हैं । हमें कभी कोई कष्ट न हो ।

४३. मा नः से॒ना अ॒रु॒षीरु॒पगुः ॥४६॥ अ १९, १५, २.

शत्रुता-भाव से भरी सेनाएँ हमारे निकट न आएँ ।

४४. मा नो वि॒दद् अ॒भि॒भा मो अ॒शस्तिः ॥१२४॥

अ ५, ३, ६.

(किसी की भी) शत्रुता और बुरी उक्ति हमारा कुछ न बिगाड़ सके ।

४५. मा पु॒रा ज॒र॒सो मृ॒थाः ॥१९७॥ अ ५, ३०, १७.

बुढ़ापे से पहले तुम मरने के नहीं ।

४६. माम् अ॒ग्ने मे॒धावि॒नं कुरु ॥९५॥ अ ६, १०८, ४.

हे अग्निदेव ! मुझे मेधावी बना दो ।

४७. माम् अ॒ग्ने वर्च॑स्वि॒नं कुरु ॥१३१॥ अ ३, २२ ३.

हे अग्निदेव ! मुझे महबली बनाओ ।

४८. मा श्रु॒तेन वि॒राधि॒षि ॥८५॥

अ १, १, ४.

हम विद्याभ्यास से बिछुड़े नहीं ।

४९. मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥७४॥ ऋ ७, ५९, १२.
 (पूर्ण आयु भोग कर) मैं मृत्युमय जीवन से (विना कष्ट भोग)
 छूट जाऊँ (परन्तु) अमृतमय जीवन से (कभी) मत (छूटूँ)।

५०. मेधे...त्वं नो असि यज्ञिया ॥९२॥

अ ६, १०८, १.

हे मेधा देवी ! तुम हमारी पूज्य हो।

५१. मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१५४॥ य ३४, १.

मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो।

५२. मो अहं द्विषते रधम् ॥६०॥ ऋ १, ५०, १३.

मैं शत्रुओं से न दबाया जा सकूँ।

५३. युक्षं सर्वस्मादात्मनस्तुमिदं विवृहामिते ॥२०६॥

ऋ १०, १६३, ६.

मैं रोग को तेरे संपूर्ण शरीर से (ही) निकाल फैकता हूँ।

५४. यथा न पूर्वमपरो जुहात्येवा धातरायूंषि
 कल्पयैषाम् ॥२१८॥ ऋ १०, १८, ५.

हे सब को धारण करने वाले (देव) ! अपनी कृपा से सब को
 ऐसा ही जीवन प्रदान करो। कभी कोई छोटी आयु वाला बड़ी
 आयु वालों के सामने परलोक को न सिधारे।

५५. यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तद्
 आपृणद् घृतेन ॥८१॥ अ ७, ५७, १.

मैं ने जो अपना-आप खोया है, सरस्वती उसे अपने स्नेह से
 फिर पूर्ण बना देवे।

५६. यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि ॥१३५॥

अ १२, १, ५८.

मैं जो कुछ कहूँ मीठा कहूँ ।

५७. योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥२२३॥

य २२, २२.

हमारा सुख-कल्याण (बराबर) बढ़ता रहे ।

५८. रथम्...अरिष्यन्तमारुहेमा स्वस्तये ॥१२॥

ऋ १०, ६३, १४.

दूट फूट से बचा हुआ रहने वाले रथ पर हम भी चढ़ा चाहें
आर परम सुख लाभ किया चाहें ।

५९. वयं त्वेन्धानास्तन्वँ पुषेम ॥६९॥ अ १९, ५५, ३.

(हे अग्ने!) हम तुम्हें चमकाते रहें और अपने-आप को पुष्ट
करते रहें ।

६०. वाचः सत्यम् अशीय ॥१००॥

य ३९, ४.

मेरी वाणी से जो निकले वह सत्य हो ।

६१. विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥१०५॥

य १८, ३३.

हम बलवान् होते हुए सब दिशाओं में अपनी विजय-पताका
फहराते रहें ।

६२. विश्वानि देव सवितर् दुरितानि परासुव ॥६६॥

ऋ ५, ८२, ५.

हे सवितः देव ! सब बुराईयों को दूर भगा दो ।

६३. विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये ॥९॥

ऋ १०, ६३, ११.

हे सब पूजा के योग्य (देवताओ) ! हमें समझाओ, ताकि हम अपनी रक्षा कर सकें ।

६४. व्यंशेम देवहितं यदायुः ॥३॥ ऋ १, ८९, ८

हमारे तन देव-प्रदत्त आयु भर ठीक चलें ।

६५. शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः ॥१७॥

ऋ ७, ३५, १०.

हमारे लिए मेघ सुखकारी हो, जिम से हम प्रजावान् बन सकें ।

६६. शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥२१६॥

ऋ १०, १८, २.

आओ, शुद्ध पवित्र बनते हुए, यज्ञमय जीवन के योग्य बनते हुए आओ ।

६७. सं श्रुतेन गमेमहि ॥८५॥

अ १, १, ४.

हम विद्याभ्यास से जुड़े रहें ।

६८. सरस्वति मा ते युयोम संदृशः ॥७८॥

अ ७, ६८, ३.

हे सरस्वति ! हम तेरे उत्तम दर्शन से (कभी) वंचित मत हों ।

६९. सर्वमेव शमस्तु नः ॥१९॥

अ १९, ९, २.

हमारे लिए सभी कुछ शान्तिकारी हो ।

७०. सर्वा आशा सम मित्रं भवन्तु ॥४१॥ अ १९, १५, ६.

सब दिशाएं हमारे प्रति मित्र-भाव से भरी हों ।

७१. सर्वैः संस्त्रावैर् धनं संस्त्रावयामसि ॥१४७॥

अ १, १५, ३.

धन की सभी धाराओं को मिला कर हम अपनी ओर बहाते हैं।

७२. सर्वो वै तत्र जीवति यत्रेदं ब्रह्म क्रियते ॥२१९॥

अ ८, २, २५.

जहाँ इस मन्त्र-पाठ का आदर होता है, (और इस पर आचरण किया जाता है) वहाँ से मृत्यु भाग जाती है।

७३. आदित्याः सुगुण नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥६॥

ऋ १०, ६३, ७.

हे आदित्यो ! हमारे लिए सुपथों का विस्तार करो। उन पर कल्याण-लाभ के लिए हम चल सकें।

७४. सूर्यम् अगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥५८॥

ऋ १, ५०, १०.

सूर्य उत्तम ज्योति है। हम उसे पा रहे हैं।

७५. स्वस्ति नः पुत्रकृत्रेषु योनिषु ॥१३॥

ऋ १०, ६३, १५.

सन्तति-कारक गृह-सम्बन्धों में हमें सुख-लाभ हो।

७६. सा (स्वस्ति) नो अमा सो अरणे निपातु ॥१४॥

ऋ १०, ६३, १६.

धनवती शुभस्थिति घर पर और बाहर हमारी रक्षा करे।



विश्वेश्वरानन्द संस्थान प्रकाशन

संस्कृत ग्रन्थ

सम्पादक—श्री विश्वब्रन्धु शास्त्री, एम. ए., एम. ओ. एल.—

१. वैदिक पदानुक्रम-कोष—चारों वेदों से सम्बन्धित संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र, वेदाङ्ग, दर्शनादि ५०० वैदिक ग्रन्थों के एक-एक पद का पूरा-पूरा स्थल-संकेत और उस के स्वरूप का आलोचनात्मक अध्ययन । १४ खण्डों में से छः खण्ड छप चुके हैं । तीन कोटि का कागज़ लगा है । छः खण्डों का मूल्य प्रथम कोटि (२४०), द्वितीय कोटि (१८०), तृतीय कोटि (१२०)
२. वैदिक शब्दाथे-पारिजात—संस्कृत, हिन्दी, और अंग्रेज़ी तीनों भाषाओं में चारों वेदों के प्रत्येक शब्द का अर्थ-परिचय ।

१ खण्ड ६)

३. बाल्मीकि रामायण—यह ग्रंथ अनेक विद्वानों की सहायता से प्राचीनतम मौलिक हस्तलेखों के आधार पर पच्चीस वर्ष पर्यन्त अथक परिश्रम करके तय्यार किया गया है । ७ भागों का सेट । ७०)

सम्पादक—श्री रामगोपाल शास्त्री—

४. अथर्ववेद सर्वानुक्रमणी—ऋषि, छन्द, देवता आदि का बोधक प्राचीन ग्रन्थ । ६)
५. अथर्ववेदन्त्योष्ठ्यविधि—अथर्ववेद का लक्षण ग्रन्थ । २॥)
६. जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण—सम्पादक, श्री रामदेव एम. ए. जर्मन विद्वान् आर्टल द्वारा प्रथम शोधित । ५)
७. माण्डूकी शिक्षा—सम्पादक, श्री भगवदत्त बी. ए. । ३)
८. काठक गृह्यसूत्र—सम्पादक, डा. विलियम केलेण्ड । १०)
९. मन्त्रार्षाध्याय—(चारायण) यजुर्वेदीय ऋषि-इतिहास । ३)

वेद-सार

१. देव-प्रीति

१. हमें सब ओर से भली भावनाएं मिलें । उनमें धोखा न हो । उनमें बाधा न हो । उनमें उन्नति ही उन्नति हो । उनसे देवता तुष्ट होकर दिन-दिन हमारी रक्षा करें, वृद्धि करें, हमारा सदा साथ दें ॥

२. देवताओं की भली, कल्याणी धारणा हमारे अनुकूल हो । देवताओं के दान का मुख हमारी ओर हो । हम ने देवताओं की मित्रता लाभ की है । वे हमारी आयु बढ़ावें और हम पूर्ण जीवन पावें ॥१॥

२. स्वास्थ्यभरी पूर्ण आयु

३. हे देवताओं ! हम कानों से भला सुनें । हे पूजनीयो ! हम आंखों से भला देखें । हमारा अंग-अंग स्थिर हो । हम सदा स्तुति-शील बने रहें । हमारे तन देव-प्रदत्त आयु भर ठीक चलें ।

४. हे देवताओं ! आपने सौ वर्ष के आस-पास ही, हमारे तनों का बुढ़ापा बनाया है । तब तक हमारे पुत्र भी पिता हो चुकते हैं । हमारा जीवन इसी प्रकार चले । बीच में ही यह टूट मत जावे ॥

५. हे आदित्यो ! हमारा जीवन बुढ़ापे तक ठीक चले । कहीं उस से पहले ही काल की कटनी इसे काट न दे या और कोई अस्वाभाविक मार इसे मिटा न दे ॥२॥

३. देवताओं का प्रिय सुपथ

६. हे आदित्यो ! मनु ने मन लगा कर और सात पूजकों को साथ में लेकर जब भक्ति-यज्ञ की जोत जगाई थी, तब सब से पहले तुम्हारे ही प्रति अपनी भक्ति की भेंट रखी थी । हमारे हृदय भी उसी भक्ति से भर रहे हैं । सो, आओ, हमें अभय प्रदान करो । हमें सच्चा मुख प्रदान करो । हमारे लिए सुपथों का विस्तार करो । उन पर कल्याण-लाभ के लिए हम चल सकें ॥

७. हे आदित्यो ! तुम उत्तम ज्ञान तथा विचार के स्रोत हो । तुम चल, अचल, सकल ब्रह्माण्ड के मालिक हो । आओ, अब हमें किए-गए और न-किए-गए पाप से मुक्त करो । तभी हमारा जीवन सफल होगा ॥

८. आओ देवताओं की नौका पर चढ़ जावें ताकि जीवन सफल हो । यह उत्तम रक्षा करने वाली है । यह विस्तृत और विशाल है । यह प्रकाश से युक्त और सुकल्याण से भरी है । यह दुःखरहित, झिड़-रहित तथा अपराध-रहित है । इसकी उत्तम गति है और इसके उत्तम चप्पू हैं ।

५. ऋ. ८, ६७, २०; ६. ऋ. १०, ६३, ७; ७. ऋ. १०, ६३, ८;
८. ऋ. १०, ६३, १०.

६. हे सब पूजा-योग्य (देवताओ) ! हमें समझाओ ताकि हम अपनी रक्षा कर सकें । कुटिलता-युक्त, बुरे मार्ग से हमें बचाओ । हे देवताओ ! तुम सुन रहे हो । मेरी इस सच्ची ढेर को भी सुनो । मेरा यह जीवन सुख-युक्त और सुरक्षित हो ॥

१०. हे देवताओ ! रोग को हम से दूर करो । सब प्रकार की निर्बलता को हम से दूर करो । शत्रु-कृत दुर्गति-कारिणी शत्रुता को हम से दूर करो । हानि को हम से दूर करो । हमें अपनी विशाल क्षत्र-छाया में लो । हमारा जीवन सुख से भरपूर हो ॥३॥

४. देवों की आशीय

११. हे आदित्यो ! जिस मनुष्य को तुम सब बुराइयों से उठा कर, भले मार्ग पर डाल देते हो, उसकी कभी कोई हानि नहीं होती । वह सब प्रकार से बढ़ता है । उसकी प्रज्ञा बढ़ती है । उसकी कर्म से सब ओर वृद्धि होती है । उसका जीवन सुखमय हो जाता है ॥

१२. हे देवताओ ! हे मरुतो ! जिस शक्ति-कारक, शूर-संग्राहक, हित-साधक और धन-दायक रथ को तुम सम्भाल कर चलाते हो, प्रातः होते ही चल पड़ने वाले, सीधा इन्द्र-द्वार तक पहुंचाने वाले और टूट-फूट से बचा हुआ रहने वाले उसी रथ पर हम भी चढ़ा चाहें और परम सुख लाभ किया चाहें ॥

६. ऋ. १०, ६३, ११; १०. ऋ. १०, ६३, १२; ११. ऋ. १०, ६३, १३; १२. ऋ. १०, ६३, १४.

१३. सुविस्तृत मार्गों पर हमें सुख-लाभ हो। भूमि के मरु-भागों में हमें सुख-लाभ हो। जल-प्रधान प्रदेशों में हमें सुख-लाभ हो। खुले मैदानों में हमें सुख-लाभ हो। धनी बसतियों में हमें सुख-लाभ हो। सन्तति-कारक गृह-सम्बन्धों में हमें सुख-लाभ हो। हे मरुतो ! सुख बढ़े, समृद्धि बढ़े ॥

१४. जो श्रेष्ठ, धनवती शुभ-स्थिति दूर-यात्रा में भी हमारा पूरा साथ देती है और भट से इष्ट-सिद्धि का द्वार खोल देती है, उस के रखवाले सब देवता स्वयं हैं। वह सदा हमारी बनी रहे। वही घर पर, और वही बाहर हमारी रक्षा करे ॥४॥

५. देवों की शान्ति-कारिता

१५. मित्र हमारे लिए सुखकारी हो। वरुण हमारे लिए सुखकारी हो। अर्यमा हमारे लिए सुखकारी हो। इन्द्र हमारे लिए सुखकारी हो। ऋहस्पति हमारे लिए सुखकारी हो। विशालगामी विष्णु हमारे लिए सुखकारी हो ॥

१६. विस्तृत प्रकाश वाला सूर्य हमारे लिए सुख-कारी होता हुआ उदय हो। चारों प्रदेश हमारे लिए सुखकारी हों। निश्चल पर्वत हमारे लिए सुखकारी हों। नदियां और जल हमारे लिए सुखकारी हों ॥

१७. रक्षा करता हुआ सविता हमारे लिए सुखकारी हो। प्रकाशवती उषाएं हमारे लिए सुखकारी हों। हमारे लिए मेघ सुखकारी हो, जिस से हम प्रजावान् हो सकें। खेती की रक्षा करने वाला शंभु हमारे लिए सुखकारी हो ॥

१८. हमारे लिए धु-लोक शान्तिकारी हो। हमारे लिए पृथिवी-लोक शान्तिकारी हो। हमारे लिए यह विशाल अन्तरिक्ष-लोक शान्तिकारी हो। हमारे लिए ओषधियां शान्तिकारी हों ॥

१९. हमारे लिए पूर्व-रूप शान्तिकारी हों। हमारे लिए कृत और अकृत शान्तिकारी हों। हमारे लिए जो हो चुका और जो हो रहा है, सभी कुछ शान्तिकारी हो ॥

२०. वायु हमारे लिए सुखकारी होता हुआ चले। सूर्य हमारे लिए सुखकारी होता हुआ चमके। प्रबल मेघ हमारे लिए सुखकारी होता हुआ कड़-कड़ बरसे ॥

१७. ऋ. ७, ३५, १०; १८. अ. १६, ६, १; १९. अ. १६, ६, २;
२०. य. ३६, १०.

२१. शु-लोक शान्ति-स्वरूप हो रहा है । मध्यलोक शान्ति-स्वरूप हो रहा है । पृथिवी-लोक शान्ति-स्वरूप हो रहा है । जल शान्ति-स्वरूप हो रहा है । ओषधियां और वनस्पतियां शान्ति-स्वरूप हो रही हैं । सब देवता शान्ति-स्वरूप हैं । ब्रह्म शान्ति-स्वरूप है । सर्वत्र शान्ति है । शान्ति है । शान्ति है । वही शान्ति मुझे भी मिले ॥२॥

६. जल-देवता की शान्तिकारिता

२२. हे जलो ! तुम वस्तुतः सुख-कारी हो । तुम हमें ठीक से धारण करो, जिस से हम बलवान्, महान्, आनन्दयुक्त और प्रकाशयुक्त हो सकें ॥

२३. हे जलो ! तुम स्नेहभरी माता के समान हो । आओ, अपने अधिक से अधिक सुख देनेवाले रस का हमें आस्वादन कराओ ॥

२४. हे जलो ! जिस (अन्न) की स्थिति-रक्षा तुम्हारी प्रसन्नता पर निर्भर रहती है, हम उसके (ही) लिए ढूँढ-ढूँढ कर तुम्हें पाते हैं । आओ, उसे बढ़ाओ और उसके द्वारा हमें बढ़ाओ ॥

२५. दिव्य जल हमारी उन्नति तथा तृप्ति में कारण बनें । सब ओर से हमारे लिए कल्याण की धाराएँ बहें । जल-देवता हमारे लिए सुखकारी हों, ताकि हम प्रभावशाली और सुरक्षित हो सकें । वे सदा सुख और आनन्द को हमारी ओर बहा लावें ॥

२१. य. ३६, १७; २२. ऋ. १०, ६, १, २३. ऋ. १०, ९, २;
२४. ऋ. १०, ६, ३; २५. ऋ. १०, ९, ४.

२६. हे जलो ! तुम आओ, ताकि मेरे शरीर को स्वास्थ्य-
कारी संजीवन-औषध मिले, और मैं चिरकाल तक सूर्य के दर्शन
करता रहूँ ।

२७. सूखी भूमि में से निकलने वाले जल हमारे लिए
सुखकारी हों । गोली भूमि में से निकलने वाले जल हमारे लिए
सुखकारी हों । खोदे जाकर निकलने वाले जल हमारे लिए सुख-
कारी हों । पात्र में भर कर रखे गए जल हमारे लिए सुखकारी
हों । वर्षा से प्राप्त हुए हुए जल हमारे लिए सुखकारी हों ॥

२८. मातृ-रूप जल हमें शुद्ध करें । वे धारावाही होते हुए
अपनी धारा से हमें पवित्र करें । जल की धाराएं वे देवियां हैं,
जो सब मल को बहा ले जाती हैं । अतएव मैं जब जलों में
डुबकी लगाकर बाहर निकलता हूँ, तो अपने आप को शुद्ध-
पवित्र पाता हूँ ॥६॥

७. आनन्दमय जीवन

२९. निश्चय ही, वसन्त रमणीय हो । निश्चय ही, ग्रीष्म
रमणीय हो । निश्चय ही, वर्षाणं और, उनके पीछे, शरद्, हेमन्त
और शिशिर रमणीय हों ॥

३०. हे पृथिवी ! तू हमें धारण करनेवाली, सुखदायिनी,
कण्टक-रहित बनकर प्राप्त हो । तू हमें विशाल मंगल प्रदान
कर ॥

२६. ऋ. १०, ६, ७; २७. अ. १, ६, ४; २८. ऋ. १०, १७, १०;
२९. सा. ३, ४, २ (=६, ४, २); ३०. ऋ. १, २२, १५.

३१. हे भूमे ! तू, जो मेरे प्रति मेरी माता के समान हो, मुझे भले प्रकार सुरक्षित रख । मुझे अच्छे प्रकार सुप्रतिष्ठित करके धारण कर । हे विशाल-स्वरूपे ! आकाश से मिली हुई तू मुझे धन-संपत्ति और ऐश्वर्य-वैभव का स्वामी बना कर धारण कर ॥

३२. हे स्वादु अन्न ! हे मधुर अन्न ! हम ने तुम्हारा भोग लगाया है । तुम हमारे रक्षक बनो ॥

३३. हे अन्न ! सुखकारी रक्षाओं को लिए हुए, सुख-प्रद होते हुए, हमारे समीप आ जाओ । कल्याणकारी बनो । कष्ट-निवारक बनो । अच्छे प्रकार सेवन करने योग्य बनो । वियुक्त न होने वाला सखा बनो ॥७॥

८. क्षेत्र-देवता का प्रसादन

३४. खेती का पालक देव हमारा मित्र है । इसी से हमारी जीत है । उसके प्रसाद-रूप गौ, घोड़ा और दूसरा सब पुष्टिकारक पदार्थ-समूह हमारा बना रहे । यही समृद्ध स्थिति चली चले ॥

३१. अ. १२, १, ६३; ३२. ऋ. १, १८७, २; ३३. ऋ. १, १८७, ३; ३४. ऋ. ४, ५७, १.

३५. हे खेत-पालक देव ! वैसे ही मधुर रसीले भोजन को हमारे मुंह में डालो, जैसे गौ मधुर रसीले दूध को बच्चे के मुंह में डालती है । शुभ कर्मों के रखवारे देवता कृपा करें, और हमें अत्यन्त शुद्ध किए गए घी के समान पवित्र और मधुर-रस-प्रवाहित भोजन मिलता रहे ॥

३६. हमारे लिए अनाज मीठे हों । हमारे लिए जल मीठे हों । हमें यु-लोक और अन्तरिक्ष मिठास-भरे हों । क्षेत्रपति देव हमारे लिए मिठास से भरा हो । हम इसकी भक्ति में लगे रहें और दुःख से बचे रहें ॥

३७. हे अन्न-पालक देव ! हमें ऐसा अन्न देते रहो, जिस से हम बलवान् बनें और हमें कोई रोग न हो । दान-शील व्यक्तियों को भर-पूर बढ़ाओ । हमें धन-धान्य देते रहो, जिस से हम मनुष्यों और पशुओं का पालन करते रहें ॥८॥

६. अभय की अभिलाषा

३८. हे (बिजली में) चमकते हुए देव ! तुम्हें नमस्कार हो । हे (बादल में) गरजते हुए देव ! तुम्हें नमस्कार हो । जिधर से भी (तुम प्रकट होते हो, उधर से ही) सुख देते हो । तुम्हें नमस्कार हो, तुम्हें नमस्कार हो ॥

३५. ऋ. ४, ५७, २; ३६. ऋ. ४, ५७, ३; ३७. य. ११, ८३;

३८. य. ३६, २१.

३६. हे देवों के देव ! तुम सब और एक-रूप होकर विराज रहे हो । जिधर से भी चाहते हो, उधर से ही हमें निहाल कर देते हो । बस, और फिर क्या कहें, जिधर से भी प्राप्त होते हो, उधर से ही हमें भय-रहित बनाओ । हमारा प्रजा-वर्ग सुखी रहे । हमारे पशु भय-रहित रहें ॥

४०. मध्यलोक हमें अभय प्रदान करे । ये, दोनों, भू-लोक और व्यु-लोक (हमें अभय प्रदान करें) । पीछे की ओर हमें अभय हो । आगे की ओर हमें अभय हो । ऊपर की ओर हमें अभय हो । नीचे की ओर हमें अभय हो ॥

४१. मित्र से हमें अभय हो । अमित्र से हमें अभय हो । अपने से हमें अभय हो । पराए से हमें अभय हो । रात हां, तो हमें अभय हो, दिन हो तो हमें अभय हो । सब दिशाएँ हमारे प्रति मित्र-भाव से भरी हों ॥

४२. हे आकाश ! और, हे भूमे ! हमारे लिए इस जीवन में सदा अभय हो । सोम हमें अभय दे । सविता हमें अभय दे । विशाल अन्तरिक्ष हमारे लिए अभय-दायक हो । सप्त-ऋषियों की भक्ति-भरी वेद-वाणी द्वारा हमें अभय लाभ हो ॥

३६. य. ३६, २२; ४०. अ. १६, १५, ५; ४१. अ. १६,

१५, ६; ४२. अ. ६, ४०, १.

४३. हमारे संघ को चारों दिशाएं सुख और बल प्रदान करें । सविता इसे सुख और बल प्रदान करे । इन्द्र हमें शत्रु-रहित अभय प्रदान करे । राजाओं का कोप (यदि हो, तो किसी) और पर (ही) हो ॥८॥

६. शत्रुशमन-कारी शक्ति-प्रसादन

४४. हे इन्द्र ! नीचे से हमें शत्रुता से मुक्त करो । ऊपर से हमें शत्रुता से मुक्त करो । पीछे से हमें शत्रुता से मुक्त करो । आगे से हमें शत्रुता से मुक्त करो ॥

४५. हे इन्द्र ! जिधर से हमें भय हो, उधर से हमें अभय दो । हे भगवन् ! तुम हमें अपनी रक्षाओं द्वारा शक्त बनाओ । (हमारी) हानि (और) हिंसा करने वालो को दूर मार हटाओ ॥

४६. हम अपनी भक्ति द्वारा इन्द्र को पूरी तरह से प्रसन्न करते रहें, (और उसके प्रसाद-स्वरूप) हम मनुष्यों तथा पशुओं के द्वारा सुख के भागी बने रहें । शत्रुता-भाव से भरी सेनाएं हमारे निकट न आएँ । हे इन्द्र ! हमारे सभी शत्रुओं को हम से अति दूर भगा दो ॥

४७. इन्द्र आण-कर्ता है, वृत्र-विनाशक है, परम रक्षण करने वाला है और वर-दाता है। सिर से वह हमारा रक्षक हो। बीच से वह हमारा रक्षक हो। पीछे से वह हमारा रक्षक हो। आगे से वह हमारा रक्षक हो ॥

४८. हे इन्द्र, ज्ञान के भंडार-रूप ! तुम हमें उस विशाल स्थिति तक ले जाते हो जिस में प्रचण्ड प्रकाश, अभय और परम सुख निवास करते हैं। तुम महान् हो और तुम्हारी भुजाएँ उग्र-रूप और विशाल हैं। हमें उनके द्वारा रक्षण मिलता रहे, यही हम चाहते हैं ॥१०॥

११. ऐश्वर्य-देवता का प्रातः-प्रसादन

४९. भोर हुए, हम अग्नि को, भोर हुए, हम इन्द्र को, भोर हुए, हम मित्र और वरुण को, भोर हुए, हम अश्वि-युगल को भजते हैं। भोर हुए, हम भग, पूषन् और ब्रह्मणस्पति को, भोर हुए, हम सोम और रुद्र को भजते हैं ॥

५०. हम उस भग का भजन करते हैं, जो प्रातः (होते ही) विजय-विस्तार करता है, जो उग्र-रूप, अदिति का पुत्र-रूप और सब का ठीक प्रकार से धारण करने वाला है। मन्द हो, तो क्या, वेगवान् हो, तो क्या और राजा हो, तो क्या —हर कोई उस भग को भगवान् कहता है ॥

४७. अ. १६, १५, ३, ४८. अ. १६, १५, ४; ४९. अ. ३,

१६, १; ५०. अ. ३, १६, २.

५१. हे उत्तम नायक, भग ! हे सच्चे मालिक, भग ! हमें पुष्टि प्रदान कर । और, हे भग ! हमारी इस आराधना को सफल कर । हे भग ! हमें गौश्रौं और घोड़ों द्वारा बढ़ाओ । हे भग ! हम नरों द्वारा नर-युक्त होते हुए उत्तम स्थिति को पावें ॥

५२. हे ऐश्वर्य-शालिन् प्रभो ! हम अब (भोर हुए) भी ऐश्वर्य-शाली हों, और दोपहर तथा सांझ समय भी ऐश्वर्य-शाली हों । इसी प्रकार जब सूर्य उदय होता है, तब (दिन चढ़े) भी हम देवताओं की कृपा के पात्र हों ॥

५३. ऐश्वर्य-शाली भग ही (हमारा) देवता हो । उस (की कृपा) से हम ऐश्वर्य-शाली बनें । हे भग ! उस तुझ को मैं पूरी लगन से आराधता हूँ । हे भग ! तो अब तू ही हमारा अग्रणी बन ॥

५४. उषा-काल-रूपी सवारी का घोड़ा आ पहुँचा है । यह पवित्र पूजा-पाठ (का उत्तम समय) है । जैसे बलवान् घोड़े रथ को ले आते हैं, वैसे ही उषा-काल (की पवित्र, प्रेरक घड़ियाँ) मेरी (इस पूजा के देवता) ऐश्वर्यशाली भग को (मेरे) पास में ले आवें ॥

५१. अ. ३, १६, ३; ५२. अ. ३, १६, ४; ५३. अ. ३, १६, ५;

५४. अ. ३, १६, ६.

११. अरवों से युक्त, गौओं से युक्त होती हुई, भद्र उषा प्रति प्रकाशवती हों। हे उषाओ ! आओ, सब ओर से प्रपूर्ण होती हुई, घृत-धाराओं को पिलाती हुई आओ । तुम सदा हमें उत्तम सुख-संपत्तियों द्वारा सुपालित करती रहो ॥११॥

१२. उषा देवता का शुभागमन

१६. (हे उषः !) आओ, चाह से भरी हुई आओ । (आओ, समय हो गया), दूध से भरपूर होने के लिए गौएँ गोचर-भूमि की ओर निकल पड़ी हैं ॥

१७. देखो, उषा (अपनी) बहिन (रात्रि) के अंधेरे को दूर भगा रही है और (व्यवहारी) मार्ग को सुन्दर प्रकाश से सजा रही है । आओ, हम भी इसके द्वारा उस बल को पावें, जिसे देवता प्रदान कर रहे हैं । आओ, हम उत्तम बल-युक्त प्रजा-धन के स्वामी बनें और सौ बरस तक आनन्दित रहें ॥१२॥

१३. सूर्य देवता का शुभोदय

१८. हम अन्धेरे को पीछे छोड़ आये हैं । अब वह (सामने) परम ज्योति चमक रही है । सूर्य देवताओं का देवता है । सूर्य उत्तम ज्योति है । हम उसे पा रहे हैं ॥

५५. अ. ३, १६, ७; ५६. ऋ. १०, १७२, १; ५७. अ. १६,

१२, १; ५८. ऋ. १, ५०, १०.

२६. हे हितकारी प्रकाश वाले, सूर्य ! चढ़ो, ऊंचे आकाश में चढ़ो। मेरे हृदय का रोग सर्वथा नष्ट हो। मेरा पाण्डु-रोग सर्वथा नष्ट हो ॥

६०. लो, अब आदित्य का उदय हो गया है। इस की समूची प्रचण्डता इस के साथ है। (उसी प्रचण्डता से मैं भी युक्त होऊँ, जिससे) मेरे शत्रु मुझ से दबें, पर मैं उन से न दबाया जा सकूँ ॥

६१. वह सामने देवताओं द्वारा स्थापित हुई २, चमकती हुई (सूर्य-रूपी) आंख उभर आई है। हम सौ वर्ष तक देखते रहें। हम सौ वर्ष तक जीते रहें। हम सौ वर्ष तक पढ़ते रहें। हम सौ वर्ष तक पढ़ाते रहें। हम सौ वर्ष तक अ-दीन (बनकर) रहें। हम सौ वर्ष से ऊपर भी (इसी प्रकार बने रहें) ॥१३॥

१४. सविता देव का प्रसादन

६२. हम सविता देव के उस परम धन्य प्रकाश का भजव करें, जो हमारी मतिओं को आगे बढ़ाता रहे ॥

६३. हम सविता देव की उत्पादन-शक्ति को धारण करते हैं। (हम) उसके द्वारा (अपनी) वृद्धि करते हैं। (हम उसी के द्वारा) ऐश्वर्य की प्राप्ति करते हैं ॥

५६. ऋ. १,५०,११; ६०. ऋ. १,५०,१३; ६१. य. ३६,२४;
६२. ऋ. ३,६२,१०; ६३. ऋ. ३,६२,११.

६४. हम चाहते हैं कि (अब) सविता देव का वह परिपालन हमें प्राप्त हो, जो (परिपालन) सर्वोत्तम है, सब से बढ़कर धारण-सामर्थ्य से युक्त है और ऐश्वर्य-सम्पद् का बढ़ाने वाला है । इसी लिए, (उसका हम सदा) चिन्तन करते रहें (और उसे पाते रहें) ॥

६५. हे सवितः देव ! हमें प्रजा दे (और साथ में) ऐश्वर्य (भी) दे । (चिन्ता से पैदा होने वाली) निद्रा की विकलता हम से दूर रहे ॥

६६. हे सवितः देव ! सब बुराइयों को दूर भगा दो । जो कुछ मंगल-कारक हो, उसे हमारे यहां ले आओ ॥१४॥

१५. अग्नि देवता का प्रसादन

६७. हे अग्ने ! जैसे (खूँटे पर) खड़े घोड़े को घास बराबर देते रहते हैं, वैसे ही, हम प्रति रात (जब तुम्हें प्रचंड करते हैं, तो) तुम्हारे लिए भोजन (लकड़ी और हव्य आदि) बराबर अर्पण करते रहते हैं । तुम्हारी समीपता हमारा धन-धान्य बढ़ाए और हम आनन्द पावें । हमें कभी कोई कष्ट न हो ॥

६८. वायु से जो प्रचंडता तुम्हें आनी थी, वह आ चुकी है । अब तुम पूरी चमक में हो । इस चमक द्वारा हमारा कल्याण करो । तुम्हारी समीपता हमारा ऐश्वर्य और धन-धान्य बढ़ाए और हमें आनन्दित करे । हमें कभी कोई कष्ट न हो ॥

६६. हर सायं हमारे घरों की रक्षा करता हुआ अग्नि चमकता है। हर प्रातः यह हमें हार्दिक प्रसन्नता को प्रदान करता है। (हे अग्ने!) तुम धन-दायक हो। हर धन को हमें प्रदान करो। हम तुम्हें चमकाते रहें, और अपने आप को पुष्ट करते रहें ॥

७०. हर प्रातः हमारे घरों की रक्षा करता हुआ अग्नि चमकता है। हर सायं यह हमें हार्दिक प्रसन्नता को प्रदान करता है। (हे अग्ने!) तुम धन-दाता हो। हमें हर धन प्रदान करो। हम तुम्हें चमकाते रहें, और सौ बरस बढ़ते रहें।

७१. मैं अन्न पाने में पीछे पड़नेवाला न होऊँ। हे अन्न को पचाने वाले, अन्न के मालिक, लाल लाटों वाले, अग्ने ! (यह) अन्न तुम्हारे अर्पण है ॥

७२. (हे अग्ने ! हमारी) सभा के (तुम) हितकारी (हो)। हमारी सभा का पालन करो। जो सभा के हितकारी (हमारे) सभासद् हैं, उनका पालन करो। हे बहु-निमन्त्रित ! जो तुम्हें अपना मालिक बनावें, वे पूर्ण आयु पावें ॥

७३. हे अग्ने ! जैसे (खूँटे पर) खड़े घोड़े को घास देते हैं, वैसे ही, हम प्रतिदिन (जब तुम्हें प्रचण्ड करते हैं, तो) तुम्हारे लिए अवश्य बलि अर्पण करते हैं। तुम्हारी समीपता हमारा धन-धान्य बढ़ाए और हम आनन्द पावें। हमें कभी कोई कष्ट न हो ॥१५॥

१६. मृत्युञ्जय मन्त्र

७४. हम त्र्यम्बक (देव) की पूजा करते हैं। वह सुख-दायक (और) पुष्टि-वर्धक है। जैसे तरबूज (पक कर अपने आप) बेल से छूट जाता है, वैसे ही (पूर्ण आयु भोग कर) मैं मृत्युमय जीवन से (बिना कष्ट भोगे) छूट जाऊँ, (परन्तु) अमृतमय जीवन से (कभी) मत छूटूँ ॥१६॥

१७. सरस्वती देवी का प्रसादन

७५. हे सरस्वती देवी ! तू पवित्र करने वाली है। तू शब्दों का भण्डार है। तेरा चिन्तन-मात्र सब धनों का द्वार है। तू (हमारे) यज्ञ (आराधन) को स्वीकार कर ॥

७६. हे सरस्वती देवी ! तू सच्ची वाणियों की प्रेरणा करने वाली है। तू सु-मतियों की सुझाने वाली है। तू (सब) यज्ञों को धारण करने वाली है ॥

७७. हे सरस्वती देवी ! तेरे इशारे से महान् शब्द पैदा हो रहा है। तुम सकल स्तोत्रों के अन्दर चमक रही हो।

७८. हे करुणामयी सरस्वती भगवती ! हमें सुखी और कल्याण-युक्त कर दे। हम तेरे उत्तम दर्शन से (कभी) वंचित मत हों ॥

७६. हे सरस्वती मातः ! हमारे मुंह में अपना पुष्टिभरा, सुख-कारी, धन-संपत्ति को खूब बढ़ाने वाला स्तन डाल दे । इसका मीठा दूध सब कामनाओं को पूरा कर देता है ॥

८०. हे सरस्वती भगवती ! देवताओं की प्राप्ति तेरे द्वारा होती है । यज्ञों का विस्तार तेरे द्वारा होता है । तू सब पुण्य-आत्माओं की प्यारी है । तू दानशीलों को उत्तम वर प्रदान करनेवाली है ॥

८१. हे सरस्वती मातः ! मैं मूर्खता-वश तेरी उपेक्षा करता हुआ, इधर-उधर लोगों के सामने हाथ फैलाता रहा हूं । मैंने अनेक प्रकार से बबराहट और मान-हानि द्वारा अपना आप खोया है । तू अब अपने स्नेह से मुझे फिर पूर्ण बना दे ॥१७॥

१८. वाचस्पति देव का प्रसादन

८२. वाक्-कारक्षक (देव) आज मुझे तीन-गुणा-सात (नामिक वचनों) के निजी बल प्रदान करे । वे (ही) सब रूपों को (उन के वाचक बन कर) धारण कर रहे हैं ॥

७६. ऋ. १, १६४, ४९; ८०. ऋ. १०, १७, ७; ८१. अ. ७, ५७, १; ८२. अ. १, १, १.

८३. हे वाक्-के-रक्षक, देव ! आओ, देवात्मक मन के साथ फिर आओ । हे वाणी के रक्षक, देव ! मेरा विद्याभ्यास स्थिरता-पूर्वक बना रहे । इसे मेरे अन्दर खूब प्रतिष्ठा प्राप्त होती रहे ॥

८४. हे वाक्-के-रक्षक, देव ! मेरा विद्याभ्यास बना रहे, आप की कृपा से खूब प्रतिष्ठित होता रहे । जैसे डोरी द्वारा (धनुष के) दोनों सिरे (अन्दर को) कसे जाते हैं, वैसे ही मेरा विद्याभ्यास मेरे अन्दर सब ओर से कसा-कसाया स्थिरतापूर्वक बना रहे ॥

८५. हम वाक्-के-रक्षक देव के समीप-भाषी होना चाहते हैं । वाक्-का-रक्षक देव हमारा समीप-भाषी बने । हम विद्या-भ्यास से जुड़े रहें । हम विद्याभ्यास से बिछड़ें नहीं ॥

८६. विश्व-विधायक देव (ही) वाक्-का-रक्षक देव है । हम उस का आज आराधन करते हैं ताकि वह हमारी रक्षा करे । वह हमारे मनों को प्रेरित करने वाला और वाणी से युक्त करने वाला है । वह सब का भला करने वाला और भले कार्यों का सहारा है । उसकी हम पर कृपा हो । हमारी ये पुकारें सुनी जावें । हमारी रक्षा हो ॥ ८॥

८३. अ. १, १, २; ८४. अ. १, १, ३; ८५. अ. १, १, ४;
८६. अ. १०, ८१, ७

१६. विद्या में प्रीति-प्रकर्ष

८७. हे अग्नि देव ! हम आपकी कृपा से तप करेंगे, तीव्र तप करेंगे । हमारी बुद्धि उत्तम हो । आयु हमारी दीर्घ हो । विद्या के हम प्यारे हों ॥

८८. हे अग्नि देव ! हम तप तपते रहें । हे अग्नि देव ! हम खूब तप तपते रहें । हे अग्नि देव ! हम सदा विद्या पढ़ते हुए, दीर्घ-जीवी और बुद्धिमान् हों ॥

८९. मैं ऋग्वेद का अभ्यास करता हूं, तो वाणी को सिद्ध करता हूं । मैं यजुर्वेद का अभ्यास करता हूं, तो मन को सिद्ध करता हूं । मैं सामवेद का अभ्यास करता हूं, तो प्राण को सिद्ध करता हूं । चक्षु और श्रोत्र को सिद्ध करता हूं । मैं वाक् और ओज को धारण करता हूं । और ओज-युक्त होते हुए प्राण तथा अपान को अपने अन्दर भरता हूं ।

९०. हमारा वह शब्द-तत्त्व जो अन्तरिक्ष में, जो वायु में, और जो घास के तिनके तिनके में गूंज रहा था, और जिस के उच्चारण को प्राणी मात्र सुन रहे थे, उसे अब हम क्यों नहीं बोल पाते ? हमारी यह अशक्ति दूर हो और हम उस को पुनः बराबर बोल पावें ॥

८७. अ. ७, ६१, १; ८८. अ. ७, ६१, २; ८९. य. ३६, १;

९०. अ. ७, ६६, १.

६१. मेरी इन्द्रियां पुनः बलवान् हों। मेरा शरीर पुनः बलवान् ही। मेरा धन-धान्य पुनः बलवान् हो। मेरा शब्द पुनः बलवान् हो। यज्ञ की मेरी अग्नियाँ यहीं पर अपने-अपने ठीक-ठिकाने पुनः बलवान् हों ॥१६॥

२०. मेधा देवी का प्रसादन

६२. हे मेधा देवी ! आओ, गो-धन के साथ आओ। आओ, अश्व-धन के साथ आओ। आओ, विस्तृत होती हुई आओ। आओ, सूर्य की किरणों के साथ आओ, तुम हमारी पूज्य हो ॥

६३. हे मेधा देवि ! तुम वेद का आधार हो। वेद से तुम्हारा विस्तार हो। सब ऋषि तुम्हारी महिमा गाते हैं। सब ब्रह्मचारी तुम्हारा रक्षण करते हैं। तुम हम पर प्रसन्न होओ और (तुम्हारे द्वारा) देवता हमारी रक्षा करें ॥

६४. जिस मेधा का ऋभु-गण को मान है, जिस मेधा का देव-गण को मान है और जिस मेधा का ऋषि-गण को मान है, उसी भली मेधा को हम अपने अन्दर धारण करें ॥

६१. अ. ७, ६७, १; ६२. अ. ६, १०८, १; ६३. अ. ६, १०८, २; ६४. अ. ६, १०८, ३.

११. हे अग्नि देव ! मेधावी ऋषि-गण (उत्तम) मेधा को (ही) पा कर (शब्दसार-स्वरूप) ऋचाओं का प्रकाश करते हैं । हे अग्नि देव ! उसी मेधा से आज मुझे भी युक्त कर के मेधावी बना दो ॥

१६. हे मेधा देवि ! सायं हो या प्रातः हो, हम तेरी ही आराधना किया करें । और, दोपहर के प्रकाश में भी, हम सूर्य की किरणों द्वारा तुझे (ही अपने अन्दर) धारण किया करें ॥

१७. (यह देखो,) अब धु-लोक और पृथिवी-लोक ने मुझे मेधा प्रदान की है । विस्तृत मध्य-लोक ने मुझे मेधा प्रदान की है । अग्नि, सूर्य और जल ने मुझे मेधा प्रदान की है । सब देवताओं ने मुझे मेधा प्रदान की है ॥२०॥

२१. सूक्त-की-देवी का प्रसादन

१८. हे सूक्त-की-देवि ! आओ, सुखपूर्वक हमारे समीप आने वाली बनो । तुम ऐश्वर्य से भर-पूर हो । तुम चित्त की जननी हो । मैं तुम्हारी पूजा करता हूं । मैं जहां रहूं, तुम मेरा सदा साथ देने वाली बनो । तुम्हें मैं अपने मन में सदा प्रतिष्ठित होते हुए देखता रहूं ॥

१९९. हे बृहस्पति देव ! आओ, सूक्त को लेकर आओ ।
 हे बृहस्पति देव ! आओ, हमें ऐश्वर्य प्रदान करते हुए आओ ।
 हे बृहस्पति देव ! आओ, हमारी ढेर को सुनते हुए आओ ॥

१००. मेरे मन की कामना पूर्ण हो । मुझे जो फुरना फुरे,
 वह पूरा हो । मेरी वाणी से जो निकले, वह सत्य हो । मेरे
 पशु बढ़ें । मेरे अन्न रस-भरे हों । मुझे यश मिले, श्री मिले
 और सम्मान मिले ॥

१०१. मेरी पूजाएँ मेरे लिए लाभदायक हों । मेरी मन की
 भावना पूरी हो । हे सब देवताओ ! मुझे अपनी शिखा-दीक्षा
 में रखो । मैं कभी भी संकट में न पड़ूँ ॥२१॥

२२. बल की कामना

१०२. पृथिवी माता ही अदिति देवी है । उसी (के घेरे)
 में सारा लोक समाया हुआ है । हम उस की स्तुति करते रहें ।
 वह हमारी बल दात्री बनी रहे । उस पर (निवास करते हुए)
 हम कर्म-शील बने रहें, और सविता देव हमारे कर्मों को सफल
 बनाता रहे ॥

१०३. हमारे लिए सभी मरुत् देवता रक्षा-धन से भरपूर हो कर आवें । हमारे लिए सभी अग्नि देवता समुज्ज्वल हो कर आवें । हमारे लिए सभी देव-गण परिपालन से युक्त हो कर आवें । हमारे लिए (हमारा) बल (ही) हमारा सब धन हो ॥

१०४. हमारा बल सातों दिशाओं में व्याप्त होने वाला हो । हमारा बल चारों कोटों में व्याप्त होने वाला हो । हम धन-ऐश्वर्य को पैदा करें । हमारे इस कार्य में सब देवताओं से मिल कर हमारा अपना बल हमारा सहायक बने ॥

१०५. हमारा बल अब हमारी दान-शक्ति को बढ़ाता रहे । हमारे बल ने हमें पूरा स्वस्थ बनाया है । हम ऐसे बल को दृढ़ता-पूर्वक धारण करते हुए सब दिशाओं में अपनी विजय-पताका फहराते रहें ॥

१०६. हमारा बल हमें आगे-आगे बढ़ाता रहे । हमारा बल बीच में (जहां हम खड़े हों) हमारी रक्षा करे । हमारा बल देव-पूजा में अधिक-अधिक लगा रहे । मेरा बल ही मुझे सर्वथा स्वस्थ बनाए हुए है । मैं जिस दिशा में भी निकलूँ, मेरा बल मेरा पूरा साथ दे ॥

१०३. ऋ. १०, ३५, १३; १०४. य. १८, ३२; १०५. य. १८, ३३; १०६. य. १८, ३४.

१०७. मैं अपने-आप को पृथिवी के पुष्टि-कारक रस से युक्त करता हूँ । मैं अपने-आप को जलों और ओषधियों से युक्त करता हूँ । हे अग्नि देव ! इस प्रकार मैं (तेरी कृपा से इन के भीतर से अपने लिए) बल प्राप्त करता रहूँ ॥

१०८. (हे अग्नि देव !) मेरे लिए पृथिवी में पुष्टि-कारक रस भर दे । मेरे लिए ओषधियों में पुष्टि-कारक रस भर दे । मेरे लिए ध्रुलोक में पुष्टि-कारक रस भर दे । मेरे लिए बीच के लोक में पुष्टि-कारक रस भर दे । मेरे लिए सब दिशाएँ पुष्टि-कारक रस से भर-पूर हों ॥२२॥

२३. आत्मा का उत्साहन

१०९. मुझे अग्नि द्वारा क्या कुछ नहीं मिल रहा ? प्रकाश तेज, यश, प्रभाव, पराक्रम, और बल—सभी मेरे अन्दर आ रहे हैं । मुझ पर अग्नि की कृपा बनी रहे और मुझे तैंतीस प्रकार के सभी वीर्य प्राप्त होते रहें ॥

११०. सूर्य मेरी आंख है । वायु मेरा प्राण है । अन्तरिक्ष मेरा आत्मा और पृथिवी मेरा शरीर है । (इस कारण) अभी तक मेरा (कुछ भी) बिगड़ा हुआ नहीं है । (आगे भी न बिगड़े और मेरा) संरक्षण होता रहे, (इस भाव से) मैं अपने-आप को भूमि और आकाश की सेवा में प्रस्तुत किए हुए हूँ ॥

१०७. य. १८, ३५; १०८. य. १८, ३६; १०९. अ. १९, ३७, १; ११०. अ. ५, ९, ७.

१११. (हे अग्ने !) तुम प्रज्वलित हो रहे हो । हम भी प्रज्वलित होते रहें । तुम सर्वतः प्रकाशवान् हो, तेज हो । मुझ में तेज धारण करो ॥

११२. जितना भूमि और आकाश का फैलाव है और जितना सात नदियों का विस्तार है, हे इन्द्र, उतने ही बड़े और भर पूर भोजन से भरे हुए पूजा-पात्र को (तेरे लिए) प्रस्तुत करता हूं, (और, तेरे प्रसादरूप) अपने लिए (भी) ग्रहण करता हूं ॥

११३. (नैवेद्य-रूप दूध और घृत से भरी) कढ़ाई विराट् ज्योति के साथ, बृहत् तेज के साथ खूब लस-लस करती हुई चमक रही है । मेरे अन्दर भी जीवन की गरमी का ऐसे ही विस्तार और चमकारा हो, जिस से मेरी शक्ति बढ़े, समता बढ़े और उत्साह बढ़े ॥२३॥

२४. स्वास्थ्य-समुद्गावन

११४. मैं अहीन हूं । मेरा शरीर अहीन है । मेरी आंखें और मेरे कान अहीन हैं । मेरे प्राण, अपान और ध्यान अहीन हैं । मैं सारा-का-सारा अहीन हूं ॥

१११. य. ३८, २५; ११२. य. ३८, २६; ११३. य. ३८, २७;
११४. अ. १६, ५१, १.

११५. मेरे मुख में वाणी ठीक हो । मेरी नासों में प्राण ठीक हो । मेरी आंखों में दृष्टि ठीक हो । मेरे कानों में श्रुति ठीक हो । मेरे बाल श्वेत न हों । मेरे दान्तों में से खून न निरुले । मेरी भुजाओं में बहुत बल हो ॥

११६. मेरे रानों में बल हो । मेरी जंघाओं में वेग हो । मेरे पाँवों में दृढ़ता हो । मेरे सब अंग ठीक हों । मेरा शरीर अति-पुष्ट हो ॥

११७. मेरी आंख का जो छिद्र हो रहा हो, मेरे हृदय और मेरे मन की जो विशेष त्रुटि हो रही हो, बृहस्पति देव, जो लोक का पालक है, उसे ठीक करे । वह मेरे लिए सुख-कारी हो ॥

११८. धु-लोक मेरा रक्षा-कारी हो । पृथिवी-लोक मेरा रक्षा-कारी हो । दिन मेरा रक्षा-कारी हो । सूर्य मेरा रक्षा-कारी हो । इन्द्र मेरा रक्षा-कारी हो । अग्नि मेरा रक्षा-कारी हो । धाता मेरा रक्षा-कारी हो ॥

११५. अ. १६, ६०, १; ११६. अ. १६, ६०, २; ११७. य. ३६, २; ११८. अ. ८, ५, १८.

११६. हे इन्द्र ! नीचे हमें स्वतन्त्रता दो । ऊपर हमें स्वतन्त्रता दो । पीछे हमें स्वतन्त्रता दो । हे वीर ! आगे हमें ज्योति प्रदान करो ॥

१२०. बृहस्पति हमारी सर्वतः रक्षा करे । पीछे से कोई हमारी हानि न करे । ऊपर से कोई हमारी हानि न करे । नीचे से कोई हमारी हानि न करे । इन्द्र हमारा मित्र है । हम (भी) उस के मित्र हैं । वह हमारा आगे से और बीच से बचाव करता रहे ॥२४॥

२५. उत्साह-प्रवाह

१२१. हे अग्नि देव ! जोड़ की ललकारों में मेरे अन्दर चमक पैदा हो । तुम को चमकाते हुए हम स्वयं पुष्ट हों । चारों दिशाएँ हमारे आगे झुकनेवाली हों । तुम्हारी देख-रेख में हम शत्रु-दल का दलन करें ॥

१२२. ललकार पड़ने पर इन्द्र सहित मरुत्-गण, विष्णु और अग्नि—सब देवता मेरी पीठ ठोकें । महा-विस्तृत मध्य-लोक मेरा साथ दे । वायु मेरे अनुकूल होकर चले । मेरी यह अभिलाषा पूरी हो ॥

११६. अ. ८, ५, १७; १२०. ऋ. १०, ४२, ११; १२१. ऋ. १०, १२८, १; १२२. ऋ. १०, १२८, २.

१२३. हे अग्नि देव ! शत्रु-दल को हमारे से परे हटा कर उस के उबाल को ठंडा कर दो । तुम हमारे रखवारे बन कर सब ओर से हमारी रक्षा करो । हमारी हानि चाहने वाले नीचे धकेले जा कर दूर भागें । (जब वे अपने) घर पर (भी अनिष्ट-चिन्तन करते हुए) जागें, तो उन की चिन्तन-शक्ति विनष्ट हो जाय ॥

१२४. हे ऋः विस्तारमयी दिव्य दिशाओ ! हमारा भी विस्तार करो । हे सब देवताओ ! यहां (हमारे मध्य में) आनन्द का विस्तार करो । (किसी की भी) शत्रुता और बुरी उक्ति हमारा कुछ न बिगाड़ सके । (किसी के भी द्वारा किए गए) द्वेष-मूलक दुष्कर्म हमारा कुछ न बिगाड़ सकें ॥२५॥

२६. तेज की कामना

१२५. सिंह में, व्याघ्र में, चीते में, अग्नि में ब्राह्मण में, सूर्य में जिस (स्वाभाविक शक्ति का) प्रकाश हो रहा है, (वही मेरे अन्दर भी हो) । जिस (स्वाभाविक शक्ति-रूपिणी) देवी भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिए हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे ॥

१२६. हाथी में, गैंडे में, सुवर्ण में, जलों में, गौओं में, पुरुषों में, जिस (स्वाभाविक शक्ति का) प्रकाश हो रहा है, (वही मेरे अन्दर भी हो) । जिस (स्वाभाविक शक्ति-रूपिणी) देवी भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिए हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे ॥

१२३. अ. ५, ३, २; १२४. अ. ५, ३, ६; १२५. अ. ६, ३८, १; १२६. शौ. ६, ३८, २.

१२७. रथ में, (रथों के) धुरों में, बैल के बल में, वायु में, मेघ में, वरुण की शूक में जिस (स्वाभाविक शक्ति का) प्रकाश हो रहा है, (वही मेरे अन्दर भी हो) । जिस (स्वाभाविक शक्ति-रूपिणी) भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिए हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे ॥

१२८. शासक-गण में, दुन्दुभि की दीर्घ (ध्वनि) में, घोड़े की हिनहिनाहट में, पुरुष की ललकार में जिस (स्वाभाविक शक्ति का) प्रकाश हो रहा है, (वही मेरे अन्दर भी हो) । जिस (स्वाभाविक शक्ति-रूपिणी) देवी भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिए हुए हमें भी आ कर कृतार्थ करे ॥२६॥

२७ महा-बल की कामना

१२९. हस्ति-बल की महा-कीर्ति (सर्वात्र) फैल रही है । यह साक्षात् अदिति देवी की उपज है । सब देवता और अदिति देवी अपने प्रसाद के रूप में मुझे यह महा-बल प्रदान करें ॥

१३०. मित्र देवता, वरुण देवता, इन्द्र देवता और रुद्र देवता (मेरा) ध्यान रखें । (वे) देवता (ही) सब के आधार हैं । वे (ही) मुझे महा-बल की चमक प्रदान करें ॥

१२७. अ. ६, ३८, ३; १२८. अ. ६, ३८, ४; १२९. अ. ३, १२, १; १३०. अ. ३, २२, २.

१३१. जिस महा-बल से हाथी प्रभाव-शाली होता है, जिस (महा-बल) से राजा मनुष्यों के अन्दर प्रभाव-शाली होता है, (और वरुण राजा) जलों के अन्दर (प्रभाव-शाली होता है), जिस (महा-बल) से देवता पहले देवताओं की पदवी को प्राप्त हुए, हे अग्नि देव ! अब मुझे उसी महा-बल से (युक्त करके) महा-बली बनाओ ॥

१३२. हे जात-वैदस् देव ! आहुति पड़ने पर जो तेरा महा-बल (और) महान् ही जाता है, जितना सूर्य का और बड़े हाथी का महा-बल होता है, हे पुष्कल वीर्यवाले, अरबी देवताओ ! (उस और) उतने महा-बल को मुझे प्रदान करो ॥

१३३. चारों दिशाओं में जितनी दूर दृष्टि पहुंच पाती है, उतना (विशाल स्वरूप धारण करता हुआ) शक्तिशाली बनाने वाला, वह हाथी का महा-बल मुझे प्राप्त हो ॥

१३४. बढ़प्पन वाले पशुओं के मध्य में हाथी बढ़-चढ़ कर स्थिति वाला बना है । मैं उस के प्रतापी महा-बल से अपने आप को अभिषिक्त करता हूं ॥२७॥

१३१. अ. ३, २२, ३; १३२. अ. ३, २२, ४; १३३. अ. ३, २२, ५; १३४. अ. ३, २२, ६.

२८. मधुर-प्रभावशाली जीवन

१३५. मैं जो कुछ कहूँ, मीठा कहूँ । मैं जब देखूँ, तो लोग मुझ से प्यार करें । मैं प्रकाश और प्रेरणा को धारण करूँ और ऊँचम मचानेवाले, शत्रुओं का दमन करूँ ॥

१३६. हे शुभ-संरक्षक, अश्वी देवो ! मुझे शब्द को सी मिठास से भर दो । लोगों के मध्य में मैं जो भी शब्द कहूँ, वह (मीठे) प्रभाव से भरा हो ॥

१३७. मैं प्रताप से युक्त होऊँ । मैं यश से युक्त होऊँ । प्रजापति देव मेरे अन्दर यज्ञ के सार-रूप पुष्टिमय जीवन को उसी प्रकार भरपूर कर दे, जैसे सु-लोक में प्रकाश भर रहा है ॥

१३८. इन्द्र देवता की भूमि और आकाश में (सर्वत्र) महिमा हो रही है । जल देवताओं की ओषधियों में (सर्वत्र) महिमा हो रही है । इसी प्रकार सब देवताओं के मध्य में (सर्वत्र) हमारी (भी) महिमा हो ॥

१३६. इन्द्रदेव महिमा बाला हो रहा है । अग्निदेव महिमा बाला हो रहा है । सौम देव महिमा बाला हो रहा है । इसी प्रकार मैं भी सब लोगों के बीच में महिमा बाला हो रहा हूँ, सब से बढ़ कर महिमा बाला हो रहा हूँ ॥२८॥

२६. मधुर जीवन

१४०. मैं मिठास को पैदा करूँ । मैं मिठास को आगे बढ़ाऊँ । हे अग्नि देव ! मैं पुष्टि से भरा हुआ आया हूँ । मुझे प्रतापी बनाओ ॥

१४१. हे अग्नि देव ! मुझे प्रताप से युक्त करो । मुझे प्रजा से युक्त करो । मुझे आयु से युक्त करो । देवताओं तक मेरी वृद्ध-प्रतीति हो । इन्द्र तक और ऋषियों तक मेरी पूछ-प्रतीति हो ॥

१४२. जैसे मधु-मक्खियाँ मधु के ऊपर मधु जोड़ती रहती हैं, हे अग्नि देव ! वैसे ही मेरे अन्दर (प्रताप के ऊपर) प्रताप (नित्य) जुड़ता रहे ॥

१४३. जैसे (शहद की) मक्खियां मधु के ऊपर मधु थोपती जाती हैं, हे अग्नी देवो ! वैसे ही मुझ में प्रताप, तेज, बल, और ओज एकत्रित होता रहे ॥

१४४. जो टीलों पर मिठास होती है, जो पर्वतों पर मिठास होती है, जो गौओं में मिठास होती है, जो घोड़ों में मिठास होती है, और जो (गुड़ आदि की) मिठास सुरा (निकालते हुए उस) में डाली जाती है, वही (स्वाभाविक) मिठास मेरे अन्दर (अपने आप) उगमती रहे ॥२६॥

३०. सम्पुष्ट जीवन

१४५. नदियां सम्पुष्ट होती हुई खूब बहें । वायु सम्पुष्ट होती हुई खूब चले । पक्षी सम्पुष्ट होते हुए खूब उड़ें । मैं खूब धारा-वाहिनी आहुति से (संपुष्ट जीवन धारण करने वाले इस) यज्ञ को करता हूँ । सुप्रकाश से युक्त (देवता) गण मेरे इस पूजन को स्वीकार करें ॥

१४६. हे मिल कर बोलने वाले पुरोहितो ! आओ, मेरे इस यज्ञ में आकर बैठो और इस का विस्तार करो । (सुख के साधन-रूप) सब पशु मुझे प्राप्त हों । जो (भी) धन-संपत्ति है, वह इस (मुझ) में ठहरी रहे ॥

१४७. जिस प्रकार नदियों के सोते सदा अनीय-भाव से (अपनी-अपनी धाराओं को आपस में) मिलाते हुए बहते हैं, उसी प्रकार धन की सभी धाराओं को मिलाकर हम अपनी ओर बहाते हैं ॥

१४८. जैसे घृत, दूध और जल (की अपनी-अपनी धाराओं के आपस में मिलने से उन के) संयुक्त बहाव बहते हैं, वैसे ही (बड़े-बड़े) संयुक्त बहावों से हम धन को (समेट कर) अपनी ओर बहा कर ले आते हैं ॥

१४९. इस (जीवन-संपोषक) यज्ञ का सब दिशाओं में विस्तार हो । मैं खूब धारा-वाहिनी आहुति से इसे सम्पन्न करता हूँ । मैं प्रत्येक पशु और प्रत्येक पक्षी को घेरे में लेकर इस को घेरता हूँ ॥३०॥

३१. पवित्र जीवन

१५०. हे अग्नि देव ! जो पवित्र और विशाल ब्रह्म तेरी ज्वाला में (लस-लस कर रहा) है, उस से हमें पवित्र करो ॥

१४७. अ. १, १५, ३; १४८. अ. १, १५, ४; १४९. अ. १९, १, ३; १५०. ऋ. ६, ६७, २३.

१२१. देव-जन मेरे विचार पवित्र करें। मनु-गण मेरे विचार पवित्र करें। सब भूत-गण मेरे विचार पवित्र करें। पवित्रकारी भगवान् मुझे पवित्र करे ॥

१२२. पवित्रकारी भगवान् मुझे पवित्र करे। मेरे अन्दर भक्ति-भाव तथा कर्मव्यक्त का विकास हो। मुझे जीवन और आरोग्य प्राप्त हों ॥

१२३. हे सविता देव ! पवित्रता और प्रेरणा, देनेनं, द्वारा हमें पवित्र करो। हम देख कर चलने वाले बनें ॥३१॥

३२. शिव-संकल्प

१२४. मेरा मन चिचित्र प्रकाश है। जब मैं दिन को जाम रहा होता हूँ, तो यह दूर निकल जाता है। जब (रात को) सोता हूँ, तब भी यह वैसे ही घूमता है। यह दूरगामी, ज्योतियों में अद्भुत ज्योति, अच्छे संकल्प वाला हो ॥

१२५. जिस के द्वारा कर्म-परायण, मनीषी, सज्जन यज्ञों में और बुद्धिमान् विद्वान् विज्ञानसभाओं में (पवित्र) कर्मों को (विस्तृत) करते हैं, जो (सब) उत्पन्न हुए २ प्राणि-वर्ग के अन्दर अपूर्व और आदरणीय (पदार्थ के रूप में) विराज रहा है, वह (यह) मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो ॥

१५१. अ. ६, १६, १; १५२. अ. ६, १९, २; १५३. अ. ६, १९, ३; १५४. य. ३४, १; १५५. य. ३४, २.

१५६. जो जानने, पहचानने और धारण करने में मुख्य साधन है; जो उत्पन्न हुए २ प्राणि-वर्ग के अन्दर अमृत ज्योति (के रूप में) विराज रहा है; जिसके बिना कोई भी कर्म करना असंभव हो जाता है, वह (यह) मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो ॥

१५७. जिस (इस एक) अमृत (पदार्थ) ने अतीत, अनागत और वर्तमान, इस सब (संसार) को धारण कर रखा है, और जो सात स्तुति-पाठकों वाले (जीवन-रूपी) यज्ञ को विस्तृत कर रहा है, वह (यह) मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो ॥

१५८. जिसमें, रथ-नाभि में अरों के समान, ऋचाएँ यज्ञ और साम प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जिस में उत्पन्न हुए २ प्राणि-वर्ग का सब ज्ञान ओत-प्रोत हो रहा है, वह (यह) मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो ॥

१५९. जो चतुर सारथि की तरह बलवान् घोड़ों के समान मनुष्यों को (मानों) रासों द्वारा लगातार हाँकता रहता है, जो हव्य-स्थान में रहता है, जो (कभी) घिसने में नहीं आता और जो वेग में सब से आगे रहता है, वह (यह) मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो ॥३२॥

१५६. य. ३४, ३; १५७. य. ३४, ४; १५८. य. ३४, ५;

१५९. य. ३४, ६;

३३. पाप से छुड़ावा

१६०. हे देवताओ ! हम ने (अवश्य) तुम्हारा अपमान किया है । (पर, अब हम पछताते हैं) । हे आदित्यो ! तुम ही हमें उस (पाप-संस्कार) से छुड़ाओ, अपने परम सत्य के द्वारा छुड़ाओ ॥

१६१. हे पूजनीयो ! तुम यज्ञों को पूर्ण कराने वाले हो । (हमें दुःख है, कि) हम आरंभ किये हुए यज्ञ को, चाहते हुए भी पूरा नहीं कर पाए । इस लिए, हे आदित्यो ! अपने परम सत्य के द्वारा हमें इस अपराध से छुड़ाओ ॥

१६२. हे सब-देवताओ ! आओ, सब मिलकर हम पर प्रसन्न हो जाओ । जानते हुए या न जानते हुए जहां २ हम से घुटि रही हो, तुम उस (के संस्कार) से हमें छुड़ाओ ॥

१६३. सोये हुए या जागते हुए पाप तो प्रबल होता ही रहा है । मैं उससे ऐसे ही बंध रहा हूं, जैसे (कोई पशु) लकड़ी के खूंटे से जकड़ा हुआ हो । मैं अब उस से छूटना चाहूं । (इस लिए) भूतकाल के (संचित शुभ संस्कार) और वर्तमान काल के (शुभ संस्कार) मिल कर मुझे इस (के पंजे से) छुड़ाएं ॥

१६४. (देव प्रसादन द्वारा) सब (देवता) पाप से (निर्मुक्त करके) मुझे प्रकाश-युक्त कर दें । (मेरी वैसी ही स्थिति हो जाय) जैसी खूँटे से छूटे हुए (पशु की) होती है, जैसी कीचड़ से लत-पत हुए हुए की स्नान करने के पीछे होती है (और) जैसे पोणे से पुणे गए घी की होती है ॥३३॥

३४. पाप से संरक्षण

१६५. हे अग्निदेव ! हे उत्तम प्रकाशवाले (प्रभो) ! कई बार भूल से हम कुछ न कुछ (दोष वाला कर्म) कर बैठते हैं और आचरण में लड़खड़ाते लग जाते हैं । तब तब, हे जानन-हार ! आप ही हमारे संस्कार को ठीक करो और उस (दोष वाले संस्कार) से हमें बचाओ । हम आप के सखा ही तो हैं । इस लिए, आप का शासन हमारे लिए अवश्य शुभकारी होना चाहिए ॥

१६६. हे वरुण देव ! माना, कि हम प्रतिदिन तेरी आज्ञाओं का उल्लंघन कर बैठते हैं । पर (क्या यह ठीक नहीं कि) हम (तेरे लिए) तेरी प्रजा-रूप हो तो हैं ॥

१६७. इस लिये, हे भगवन् ! हमारा कचूमर मत निकाल । हमारी इतनी बुरी मार-पीट मत कर । हम पर रुष्ट होकर अति क्रोध मत कर ॥

१६८. हे वरुण देव ! हम साधारण मनुष्य हैं । हम कभी न कभी (जानते हुए भी) देवताओं के प्रति क्रोध कर बैठते हैं । कभी-कभी अनजाने में तो हम तुम्हारे नियमों का भंग करते ही रहते हैं । हे देव ! हमारे (मनों से) इस (दोनों प्रकार के) पाप का संस्कार दूर हो । हमारा इससे नाश मत हो ॥

१६६. देवताओं की पदवी को पहुंचे हुए ऋषि हमें मत छोड़ें। वे (ही) हमारे शरीरों का रक्षण और धारण करने बाजे हैं। हे न मरने-वालो ! हम मृत्यु-ग्रस्त हो रहे हैं। आओ, हमें आश्वासन दो। हमें चिर तक बनी रहने वाली जीवन-शक्ति से पूर्ण कर दो ॥३४॥

३५. सुसंस्कार का प्रबोधन

१७०. हे अग्नि देव ! तू अच्छे प्रकार जाग (ताकि) हम अच्छे प्रकार आनन्दित हो सकें। तू सदा ध्यान-पूर्वक हमारी रक्षा कर। (हम सो रहे थे, अब) फिर हमें जागृत कर दे ॥

१७१. मैं बुरी निद्रा को छोड़ता हूं। मैं पाप-युक्त निद्रा को छोड़ता हूं। मैं बेहोशी को छोड़ता हूं। मैं (ऐसे) मन्त्रों को अपनी ढाल बनाता हूं (जिन के मनन द्वारा) सोते समय आ घेरने वाले शोक-संतापों को परास्त कर सकूं ॥

१७२. हे मन्दता-कारी (बुरे संस्कार) ! छूट जा, परे हट, दूर चला जा। तू ने कहीं और दूर जाकर दुःख का कारण बनना है, तो बन। जीते-जागते का मन कई प्रकार का होता है, (इस लिए अब तुझ से मेरी प्रवृत्ति हट चुकी है) ॥

१६६. अ. ६, ४१, ३; १७०. य. ४, १४; १७१. अ ७, १००, १; १७२. ऋ. १०, १६४, १.

१७३. लोग भले (भ्यक्ति) से (ही) कामना पूरी करना चाहते हैं। लोग भले और सुकुशल (भ्यक्ति) को ही कार्य (में) लगाते हैं। भलाई, मानो, सूर्य की भी आंख (के समान) है। जीते जागते के मन की अनेक (भली और बुरी) प्रवृत्तियां होती हैं (हमारा कर्त्तव्य भली प्रवृत्तियों का अनुसरण करना होना चाहिए) ॥

१७४. हे अग्नि देव ! आशा, निराशा और बुरी इच्छा के चशीभूत हो कर हम से, सोते और जागते हुए, कहां-कहां त्रुटि नहीं रही, हम से क्या-क्या दुष्कर्म नहीं हुए ? (परन्तु अब तो हम समझ चुके हैं, इस लिए) उन सब असेवनीय दुष्कर्मों के (संस्कार) हम से बिल्कुल छूट ही जाने चाहिए ॥३५॥

३६. यज्ञमय जीवन की सफलता

१७५. हे वेद-पाठ के देवता ! उठो, देवताओं को यज्ञ का संदेश सुनाओ। आयु बढ़ाओ। प्राण बढ़ाओ। प्रजा बढ़ाओ। पशु बढ़ाओ। कीर्ति बढ़ाओ। यज्ञ-कारी को (हर प्रकार से) बढ़ाओ ॥

१७३. ऋ. १०, १६४, २; १७४. ऋ. १०, १६४, ३;
१७५. अ. १६, ६३, १.

१७६. यज्ञ के द्वारा मेरी वृद्धि कारी शक्ति और मेरी वृद्धि समुन्नत हों। मेरा दान और मेरा आदान यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे पूजा-पाठ और मेरा धर्म-कर्म यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा बोल और मेरा श्लोक यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा सुना-सुनाया और मेरा पढ़ा-पढ़ाया यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी (यज्ञाग्नि की) ज्योति और मेरा (यज्ञाग्नि का) प्रकाश यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥

१७७. मेरा प्राण और मेरा अपान यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा व्यान और मेरा श्वास यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा चित्त और मेरा चिन्तन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी वाणी और मेरा मन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी चक्षु और मेरा श्रोत्र यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी क्षमता और मेरा बल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥

१७८. मेरा प्रताप और मेरा प्रभाव यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा धड़ और मेरा तन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा धर्म और मेरी खाल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे अंग और मेरी हड्डियां यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे जोड़ और मेरी संधियां यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी आयु और मेरा बुढ़ापा यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१७९. मेरा ज्येष्ठ-भाव और मेरा आधिपत्य यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा क्रोध और मेरा बल और मेरी गरमी यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी शक्ति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी जीत और मेरी महिमा यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी विशालता और मेरा विस्तार यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा विस्तार और मेरी दीर्घता यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा बढ़ापन और मेरी बढ़ाई यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो ॥

१८०. मेरा सत्य और मेरी श्रद्धा यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा जुड़ाव और मेरा धन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी व्यापकता और मेरा फैलाव यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी क्रीड़ा और मेरा प्रमोद यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा बन चुका वैभव और बनने जा रहा वैभव यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा अच्छा वचन और मेरा अच्छा कर्म यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥

१८१. मेरी स्वस्थता और मेरी अमरता यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी अक्षीयता और मेरी नीरोगता यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा जीवन और मेरी दीर्घायुता यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी निःशत्रुता और मेरा अभय यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा सुख और मेरी चैन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी सुप्रभात और मेरा सु-दिन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥

१८२. मेरी धामने की शक्ति और मेरी धारण करने की शक्ति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा कुशल और मेरा मंगल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी व्यापकता और मेरा फैलाव यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी विद्या और मेरा ज्ञान यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी संतति और मेरी संतति की संतति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी खेती और मेरा (खेती का) फल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥

१८३. मेरा सुख और मेरा आनन्द यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा प्रीति का विषय और मेरा अनुकूलता का विषय यज्ञ-द्वारा समुन्नत हों। मेरी चाहना और मेरी चाहभरी मन की भावना यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा ऐश्वर्य और मेरा वैभव यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा भद्र और मेरा कल्याण यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी कीर्ति और मेरा यश यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१८४. मेरा अन्न और मेरी अन्न की प्रचुरता यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा दूध और मेरा रस यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा घी और मेरा शहद यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा सह-भोज और मेरा सह-पान यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी खेती और मेरी बाड़ी यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी उगाई और भूमि की पैदावार यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥

१८५. मेरा धन और मेरी संपत्ति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा पोषण और मेरी पुष्टि यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा वैभव और मेरी प्रभुताई यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी पूर्णता और मेरी पूर्णता-भरी स्थिति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी प्रचुरता और मेरी असीमता यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा अन्न और मेरी वृष्टि यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥

१८६. मेरा प्राप्त किया जा चुका और मेरा प्राप्त किया जाने वाला यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा भूत और मेरा भाव्य यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा स्वास्थ्य और मेरा स्वास्थ्य का उत्तम साधन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी ऐश्वर्य और मेरी संपत्ति की साधना यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा सामर्थ्य और मेरी सामर्थ्य की साधना यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी मति और मेरी सुमति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥

१८७. मेरे चावल और मेरे जौ यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे उद्द और मेरे तिल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे मूंग और मेरे खल्व यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे प्रियंगु और मेरे अणु यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे श्यामाक और मेरे नीबार यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे गेहूं और मेरे मसूर यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥

१८५. य. १८, १०; १८६. य. १८, ११; १८७. य. १८,

१८८. मेरे पथर और मेरी मिट्टी यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे टीले और मेरे पर्वत यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे रेतीले स्थान और मेरे जंगल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा सोना और मेरी चांदी यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा लोहा और मेरा तांबा यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा सीसा और मेरा रांगा यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥

१८९. मेरी अग्नि और मेरा जल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी बेलें और मेरे बूटे यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी खेती की उपज और मेरी जंगली उपज यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे घरेलू पशु और मेरे जंगली पशु यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा धन और मेरी संपत्ति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा ऐश्वर्य और मेरा वैभव यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥

१९०. मेरा टिकाव और मेरा बसेरा यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा कर्म और मेरी शक्ति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा हिलना-जुलना और मेरा चलना-फिरना यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों ॥३६॥

१८८. य. १८, १३; १८९. य. १८, १४; १९०. य. १८,

३७. संजीवनम्

१६१. (देखो), वायु नीचे को रुख करके चलता है। (देखो), सूर्य नीचे को रुख करके तपता है। (देखो), गौ के दूध की धाराएं नीचे की ओर जाती हैं। तुम भी जानो कि तुम्हारा रोग (भी तुम्हारे अन्दर से निकल कर) नीचे की ओर (नष्ट) हो चुका है ॥

१६२. (देखो), यह मेरा हाथ शक्तिशाली है। (देखो), मेरा यह दूसरा हाथ और भी बढ़कर शक्तिशाली है। (देखो), यह मेरा (हाथ सब रोगों का इलाज कर सकता है। (देखो), यह (मेरा दूसरा हाथ) सुख का संचार करने वाला है ॥

१६३. हे देवताओं! क्या हुआ यदि (यह) नीचे गिर गया है। तुम (इसे) उठाकर फिर ऊंचा कर दो। हे देवताओं! क्या हुआ यदि (यह) कोई अपराध कर बैठा है। तुम (इसे) दुबारा जीवन प्रदान करो ॥

१६४. ये (देखो) दोनों वायु चल रही हैं। एक सागर से उठ रही है और दूसरी पर्वत से आ रही है। एक तेरे अन्दर शक्ति का संचार करती रहे और दूसरी तेरे (अन्दर से) रोग को (निकाल कर) दूर धकेलती रहे ॥

१६५. उठो, फिर से होश में आओ। संकल्प, उत्साह (और) जीवन को धारण करो। अभी तुम्हें लगातार सूर्य भगवान् के दर्शन करते रहना है ॥

१६१. ऋ. १०, ६०, ११; १६२. ऋ. १०, ६०, १२; १६३. ऋ. १०, १३०, १; १६४. ऋ. १०, १३७, २; १६५. ऋ. १०, ५७, ४.

११६. तुम (मौत की ओर क्यों जा रहे हो ?), मैं तुम्हें पीछे बुला रहा हूँ। वापिस लौटो। जीने जागने के मार्ग को पहचानने वाले (बनो)। ऊपर उठना, ऊपर चढ़ना और आगे बढ़ना जानने वाले (बनो) ॥३७॥

३. मृत्यु-निवारण

११७. यह लोक देवताओं का प्यारा है। यहां पराजय का क्या काम ? तुम जिस मौत के प्रति संकल्पे जा चुके हो, हम उसे (अपने वश में करके और मानो,) साथ (खड़ा करके) तुम्हें वापिस बुलाते हैं। बुढ़ापे से पहले (अब) तुम मरने के नहीं ॥

११८. तुम्हारे प्राण और अपान (फिर से) चलने लग जायें। ये (तुम्हारे) शरीर को छोड़ मृत जायें। ये इस के अन्दर मिले हुए (अपना-अपना कार्य करने वाले) हों। तुम बढ़े चलो। तुम सौ वर्ष पर्यन्त जीते रहो। (जीवन-स्वरूप स्वयं) अग्नि (देव) तुम्हारा सर्वोत्तम अधिपति और रक्षक (बन रहा) है ॥

११९. तुम्हारा जीवन, ठीक है, निकल कर दूर ही जा पहुँचा था। परन्तु मेरे द्वारा किए जा रहे उपाय से तुम्हारे प्राण और अपान पुनः तुम्हारे अन्दर लौट कर आ रहे हैं। अग्नि (देव) तुम्हारे जीवन को मौत के घर से लौटा लाया है। अब उसे मैं तुम्हारे अन्दर भरे देता हूँ ॥

२००. न इसे प्राण छोड़े और न ही इसे अपान छोड़ कर भाग निकले । (मैं) इसे (सनातन) सप्त-ऋषियों के सामने स्थापित कर रहा हूँ (ताकि) वे इसे सुख-पूर्वक बड़ी आयु (प्रदान करने के लिए) बढ़ाते रहें ॥

२०१. हे प्राण ! हे अपान ! आओ, इस (के शरीर) में प्रवेश करो । जैसे बैल (सूने) बाड़े में प्रवेश करके उसे आबाद कर देते हैं, ऐसे ही तुम इसमें जीवन का संचार कर दो । यह पक्की आयु भोगने वाला बने । यह नीरोग रहे । यह बढ़ता रहे ॥

२०२. हम तेरे अन्दर प्राण-शक्ति को लाकर भर देते हैं । हम तेरे क्षय-रोग को दूर भगा देते हैं । यह परम सनातन अग्नि (देव) हमें सब ओर से जीवन प्रदान करता रहे ॥

२०३. (ले), देख, तेरा सांस चल पड़ा है । (ले, देख) तेरी (आंख की) ज्योति (जग पड़ी) है । (ले, देख) तेरा अन्धेरा दूर भाग गया है । (यह, लो) मौत को, दुःख-दर्द को, रोग शोक को तुझ से दूर ले जाकर (भूमि के अन्दर) गहरा दबाए देते हैं, ताकि फिर सिर न उठा सकें ॥३८॥

२००. अ. ७, ५३, ४. २०१. अ. ७, ५३, ५; २०२. अ. ७, ५३, ६; २०३. अ. ८, १, २१.

३६. पुनर्-जीवन

२०४. तू (आ, और) सौ शरद् (ऋतु), सौ हेमन्त (ऋतु) और सौ वसन्त (ऋतु, बराबर) बढ़ता हुआ जीता रह । (अभी तू मौत की आशंका को चित्त से निकाल दे, क्योंकि) हम ने इन्द्र, अग्नि, सविता, और बृहस्पति देवों की वह पूजा की है, जिस से सौ वर्ष की आयु हो सकनी चाहिए । (और, उन देवों ने) इस (तुझ को) (एक बार नहीं, वरन्) सौ बार (पुष्ट करते हुए) फिर से (जीवित करके हमारे हाथों में) दिया है ॥

२०५. तू (अब) फिर से नया (बन कर) फिर से (ही) आया है । मैं ने तुझे (अब) संभाल लिया है । मैंने तुझे (अब) पा लिया है । हे संपूर्ण अंगों वाले ! मैंने (अब) तेरे लिए आँख (की) संपूर्ण (ज्योति) और संपूर्ण आयु लाभ कर ली है ॥

२०६. (यह ठीक है, तेरे) अंग-अंग में, रोम-रोम में, जोड़-जोड़ में (रोग धर कर चुका था, परन्तु, लो, मैं) उसे अब तेरे अंग-अंग से, रोम-रोम से, जोड़-जोड़ से, (तेरे) संपूर्ण शरीर से (ही) निकाल फेंकता हूँ ॥

२०७. यह (जीवन) अमृत की लड़ी है । इसे पकड़ा पकड़ ले । यह लड़ी बीच में टूटने न पावे । तुझे पूरी पकड़ी हुई अवस्था प्राप्त हो । तेरी प्राण-शक्ति, तेरी जीवन-शक्ति तेरे अन्दर दुबारा आ रही है । (अतः, अब) तू (किसी) कष्ट को मत पा, तू बेहोशी में मत जा, तू मौत की खपेट में मत पड़ ॥

२०४. ऋ. १०, १६१, ४; २५. ऋ. १०, १६१, ५;
२०६. ऋ. १०, १६३, ६; २०७. अ. ८, २, १.

२०८. आ, हृधर जीतों के चांदने में आ। आ, सौ साल तक तू जीता रह। (यह, ले), तेरा नाश करने पर तुले हुए मौत के फंदों को काटे देता हूँ और तुझे बहुत दीर्घ आयु धारण कराता हूँ ॥३६॥ (अभी तुम) बोल नहीं रहे हो, बोलो,

४०. प्राण-प्रत्यास्थापन (जिहा जो [दिलाने])

२०९. मैं वायु से तेरे प्राण को (पुनः) लाता हूँ। मैं सूर्य से तेरे (नेत्रों के) प्रकाश को (पुनः लाता हूँ)। (यह, ले) तेरे (अपने) मन को (पुनः) तेरे अन्दर धारण किए देता हूँ। तू (अपने) अंगों द्वारा स्फूर्तिमान् हो जा। ~~(अब) तू (अपनी) जिहा द्वारा अस्वास्थ्य करने (और) बोलने लग जा ॥~~

२१०. यह जीता रहे, मरे मत। हम इसे सब प्रकार से स्वस्थ बनाते हैं। मैं इस के लिए औषध तैयार करता हूँ, (जिस से यह) पुरुष (अर्थात्. शक्ति-शाली नर) हो जाय (ताकि) हे मृत्यु ! तू (इसे) मार न सके ॥

२११. हे मृत्यु, इस के प्रति तू अहिमक हो जा। तू इस पर दया कर। यह यहां (तेरे दबाव के नीचे) से उठ खड़ा हो। यह नीरोग रहे, इस के अंग ठीक (बने) रहें। यह ठीक सुनता रहे। यह सौ बरसों में जा कर बूढ़ा होने वाला हो। यह शरीर द्वारा (सब) भोग भोगता रहे ॥

२०८. अ. ८, २, २; २०९. अ. ८, २, ३; २१०. अ. ८, २, ५;

२११. अ. ८, २, ८.

२१२. (हे पुरुष,) तेरे हृदय के लिए सूर्य का तपना (और) वायु का चलना सुखकारी हों। तेरे प्रति दिव्य, रसीले जल सुखकारी (होते हुए) प्रवाहित हों ॥

२१३. तेरे लिए ओषधियां सुखकारी हों। मैं (अब) तुझे (मौत के) पाताल से (मानो) उठा कर ऊपर को पृथिवी पर ले आया हूँ। उस (पृथिवी) पर (अब) दोनों, सूर्य और चन्द्र, जो प्रकाश के पुंज हैं, तेरी रक्षा करते रहें ॥

२१४. जो खेती का फल तू खाता है (और) जो पानी तू पीता है, वह ग्रहण के योग्य और ग्रहण के अयोग्य (दोनों प्रकार का) होता है। (इस लिए) जो कुछ तू सेवन करता है, मैं उस के विषैले प्रभाव को तेरे अमृद से निकाले देता हूँ ॥

२१५. (सब ऋतु तुम्हारा कल्याण करें)। हम तुम्हें शरद, हेमन्त, वसन्त और गरमी को सौंपते हैं। बरसात में ओषधियां बढ़ती हैं। उस में (भी) तुम सुखी रहो ॥४०॥

२१२. अ. ८, २, १४; २१३. अ. ८, २, १५; २१४. अ. ८, २, १९; २१५. अ. ८, २, २२.

४१. जीवन की आशीस्

२१६. आओ, मौत के निशान को मिटाते हुए आओ ।
आओ, दीर्घ आयु का विस्तार करते हुए आओ । आओ, प्रजा
और धन द्वारा फैलते हुए आओ । आओ, शुद्ध, पवित्र बनते हुए
आओ । आओ, यज्ञ मय जीवन के योग्य बनते हुए आओ ॥

२१७. ये जीते जागते लोग हैं । ये मुरदों से अलग हो गये
हैं । हमारी कल्याण मयी ढेर को देवताओं ने अवश्य सुना है ।
आओ, और आगे बढ़ें । आओ, नाचें और हँसें । आओ, दीर्घ
आयु का खूब विस्तार करें ॥

२८. जैसे एक दिन दूसरे दिन के और जैसे एक ऋतु
दूसरे ऋतु के पीछे चलते हैं, ठीक ऐसे ही हम सब का जीवन-क्रम
चले । हे सब को धारण करने वाले (देव) ! अपनी कृपा से सब
को ऐसा ही जीवन प्रदान करो । कभी कोई छोटी आयु वाला
बड़ी आयु वालों के सामने परलोक को न सिवारे ॥४१॥

४२. साध्य की अनुप्रशंसा

२१८. यह मन्त्र-पाठ संजीवन-कारक है । जहाँ इस का
आदर होता है (और इस पर आचरण किया जाता है), वहाँ
से मृत्यु भाग जाती है । गौ हो, घोड़ा हो, पुरुष हो, पशु हो—
सब सुखी रहते हैं ॥

२१६. ऋ. १०, १८, २; २१७. ऋ. १०, १८, ३; २१८. ऋ.
१०, १८, ५; २१९. अ. ८, २, २५.

२२०. (जो इस प्रकार मन्त्र-पाठ को करता है और इस के अनुसार आचरण करता है), वह (मौत तक को दुतकार कर) भा जाता है, ऊंचा उठता हुआ चला जाता है, जीते हुए लोगों के अंदर (फिर से) शामिल हो जाता है। वह (योग्य) पुत्रों का पिता बनता है, और मनुष्य-समाज में परम प्रतिष्ठा को पाता है ॥

२२१. (हे, इस मन्त्रपाठ के अनुसार जीवन-व्रत लेने वाले पुरुष !) तुम प्रेरणा के केन्द्र हो। तुम प्रकाश को धारण करने वाले हो। तुम अपने स्वरूप की रक्षा करने वाले हो। आओ, जिन के बराबर खड़े हो, तुम उन से आगे बढ़ो। आओ, जो तुम से बढ़े हुए हैं, उन तक पहुँचने की करो ॥

२२२. (हे, इस मन्त्रपाठ के अनुसार चलने वाले साधक !) तुम प्रकाश हो, तुम प्रकाश हो, तुम प्रकाश हो। आओ, जिन के बराबर खड़े हो, तुम उन से आगे बढ़ो। आओ, जो तुम से बढ़े हुए हैं, तुम उन तक पहुँचने की करो ॥४२॥

४३. साध्य का संव्यापन

२२३. (हमारे) ब्राह्मण-वर्ग में तप, त्याग और ज्ञान से सुशोभित जीवनवाले ब्राह्मण सदा होते रहें ।

(हमारे) रक्षक (सैनिक) वर्ग में प्रभुत्व-शाली, अस्त्र-शस्त्र में अतिनिपुण, (रिपु-दल के) महा-विनाशक सूरमे सदा होते रहें ।

(हमारे) इस यजन-शील (समाज) में दुधार गौएं, (खूब हल आदि) खींचने वाले बैल; वेग-गामी घोड़े, गृह-धर्मिणी महिलाएं और विजय-शील, (शत्रुओं का) नाश करने वाले, युद्ध-प्रवीण, वीर जवान सदा होते रहें ।

जब-जब हमें चाहिए, मेंह (बराबर) बरसता रहे ।

हमारी फल-लदी खेतियां (खूब) पकती रहें ।

हमारा सुख-कल्याण (बराबर) बढ़ता रहे ॥४३॥

विश्वबन्धु-कृत वेदसार का, साध्य-खण्ड संपूर्ण हुआ ।

सहृदय वाचक-गण का जीवन, सफल-मनोरथ पूर्ण हुआ ॥१॥

परिशिष्ट (१)

वैदिक व्याकरण, स्वर तथा छन्द

कुच्छ आवश्यक संकेत

(क) वर्णमाला—लौकिक संस्कृत में पाये जाने वाले सभी स्वर और व्यञ्जन वैदिक संस्कृत में भी पाए जाते हैं। परन्तु उन के अतिरिक्त, ऋग्वेद में जब 'ङ्' तथा 'ड्' दो स्वरों के मध्य में आते हैं, तो उन के स्थान पर क्रमशः 'ळ' तथा 'ळ्ह' हो जाते हैं— यथा (ईङे >) ईळे (साढा >) साळहा, अन्यथा वे 'ङ्' तथा 'ड्' ही रहते हैं। यथा— वीङ्वङ्गः, मीड्वान्। 'ळ' और 'ळड' का उच्चारण, क्रमशः, हिंदी के 'ङ्' और 'ड्' से मिलता-जुलता होता था।

(ख) संधि—वेद में संधि कम होती थी, विशेषतः, विभिन्न पदों और पादों के मध्य में। उपलब्ध पाठों के अनेक संधि-स्थल मूलतः असंहित रहे होंगे, ऐसा छन्दो-विमर्श के आधार पर कहा जा सकता है। वैदिक संधि के बारे में उत्तरोक्त संकेत ध्यान-योग्य हैं :—

(१) 'ए' और 'ओ' से परवर्ती 'अ' उच्चरित होता रहता था, तु. ते अग्नेः, सो अरणे नि पातु।

(२) 'ओ' तथा 'औ' को 'उ' अथवा 'ऊ' परे होने पर क्रमशः 'अ (<अव्)' और 'आ (<आव्)' होते हैं, अन्यथा 'अव्' और 'आव्' ही होते हैं, तु. वाय उक्थेभिः, सुजिह्वा उप; वैतु. वायो आ > वायव् आ, तौ आ > ताव् आ।

(३) पदान्त में 'न्' तथा उपधा में 'आ' हो, तो 'न्' को अनुनासिक (चन्द्रबिन्दु) हो जाता है, तु. जनान् अनु > जनाँ अनु। परन्तु

मुद्रित ग्रन्थों के पाठ 'स्वनवेज्जने' आदि पूर्वरूप एकादेश के उदाहरणों में भी प्रायः छन्द की दृष्टि से 'ज' का उच्चारण अपेक्षित होता है।

‘ई’, ‘ऊ’, ‘ऋ’ के उपधा में रहते साथ-साथ ‘र्’ का भी उदय होता है, तु. परिधीन् अति > परिधीर् अति, अभीशन् इष > अभीशैर् इष, नुन् अभि > नैर् अभि ।

(४) ‘ऋ’, ‘र्’ अथवा ‘ष्’ से परे ‘न्’ को ‘ण्’ हो जाता है। स्वर, कवर्ग, पवर्ग अथवा य् व् इ का व्यवधान होने पर भी यह नियम लागू होता है, तु. प्र नृपात् > प्र णृपात्, ङरु नः > ङरु णः, अर्केण, ब्रह्मन्-वतीम् > ब्रह्मण-वतीम् ।

(५) जब ‘अ’, ‘आ’ से भिन्न स्वर अथवा ‘क्’, ‘र्’ और ‘ष्’ से परवर्ती होता हुआ ‘स्’, पदान्त में आवे अथवा पदान्तवत् समझा जावे, ‘स्’, ‘त्’, ‘थ्’, ‘न्’, ‘म्’, ‘य्’ अथवा ‘व्’ उस से परे आवें, तो उस ‘स्’ को ‘ष्’ हो जाता है, तु. गोसखि > गोषखि, स्वर् साति > स्वर्षाति, हि स्थाः > हि ष्ठाः, ज्योति (स् >) ष् + भ्याम् > िति (इ >) र्-भ्याम्, दु (स् >) ष् + डभः > दुइ-डभः > दूइ(ळ)भः ।

(ग) सुबन्त—जैसा कि उपरोक्त उदाहरणों से संकेतित होता है, सभी विभक्तियों और वचनों में सभी लिङ्गों के शब्दों के कुछ-कुछ वैकल्पिक और विलक्षण रूप भी वेद में पाए जाते हैं :—

(१) प्र.२ व द्वि.२—देवौ व देवा, पितरौ व पितरा, श्वानौ व श्वाना, गावौ व गावा;

(२) प्र.३—देवाः व देवासः, देव्यः व देवीः, (अरि- >) अर्यः व अर्यः;

(३) न. प्र.३ व द्वि.३—दुरितानि व दुरिता, क्रानि व क्रा, वसूनि व वसू;

(४) तृ.१—प्रियवा व प्रिया, गस्त्या व गस्ती, ऊस्त्या व ऊस्ती;

(५) तृ.३—देवैः व देवेभिः;

- (६) स.१—ऊत्याम् व ऊती, तन्वाम् व तनू व तन्वि;
 (७) स.१—ब्रह्मणि व ब्रह्मन्, मूर्धनि व मूर्धनि व मूर्धन्;
 (८) सं.१—भगवन् व भगवः;
 (९) (अप्- 'जल' >) प्र.२—आपा, द्वि.३—आपः, द्वि.३,
 पं. व ष.१—अपः;
 (१०) (पश्चिन्- 'मार्ग' >) प्र.३ व द्वि.३—पन्थाः, द्वि.१—पन्थाम्;
 (११) (पूषन्- 'देवता') द्वि.१—पूषणम् व पूषाणम् (पैप्पलाद)।

(घ) तिङन्त—

- (१) वेद में लिङ् व लोट् के प्रार्थना, प्रेरणा, संभावना आदि अर्थों को ही प्रकट करने के लिए लोट् लकार प्रायः प्रयुक्त होता है। इसके भवति, भवाति, ईङ्ख्यातै, कृणवै, जुजोषथ; करिष्याः; भवत्, भवात्; तारिषत्, तारिषात् आदि रूपों में लट्, लृट्, लङ् अथवा लुङ् लकारों के समान यथा-युक्त तिङ्—प्रत्ययों से पूर्ववर्ती धातु-निष्पन्न भङ्ग के अन्त में अकार अथवा आकार रहता है।
- (२) लङ् तथा लृङ् के रूपों के आरम्भ में जुड़ने वाले 'अ' या 'आ' का प्रयोग कभी-कभी नहीं भी होता, कभी-कभी उक्त 'अ' के स्थान पर 'आ' भी प्रयुक्त होता है, तु. गमत्, (✓रिष् >) अरैक्, (✓वृ >) आवः।
- (३) उ३ के 'मः' के स्थान पर 'मसि' (तु. भवामसि) तथा म३ के 'त' अथवा 'थ' के स्थान पर कमशः 'तन' या 'थन' भी प्रयुक्त होते हैं, तु. (✓इ >) इत्तन, इथन।

(ङ) कृत्-प्रत्यय—

- (१) भाव अथवा कर्म में प्रयुक्त होने वाले कृत्प्रत्ययों 'अनीय', 'तस्य' तथा 'य' के अतिरिक्त वेद में 'आम्य', 'एन्य' तथा

‘त्व’ प्रत्ययों का प्रयोग भी होता है, तु. पनाय्य, वरेण्य, स्नात्व ।

- (२) क्त्वा’ के विकल्प के रूप में ‘क्त्वाय’ तथा ‘क्त्वी’ प्रत्यय भी उपलब्ध होते हैं, तु. गत्वा, गत्वाय, गत्वी ।
- (३) ‘तुम्’ प्रत्यय के विकल्प के रूप में ‘असे’, ‘ए’, ‘ऐ’ ‘तवे’, ‘तवै’, ‘अध्वै’ आदि प्रत्यय भी प्रयुक्त होते हैं, तु. चक्षसे, जीवसे; इशे, भुवे; प्रयै, कर्तवे; मन्तवे; कर्तवै, मन्तवै; चर्ध्वै आदि ।

(च) उपसर्ग—

वेद में उपसर्ग क्रियापद से पूर्व तो लगता ही है, उत्तरवर्ती एवं व्यवहित होकर भी लगता है, तु. याति नि, उप...ह्वयताम् ।

(छ) निपात—

- (१) लोक-प्रसिद्ध निपातों के अतिरिक्त वेद में आत्, ईम्, कम्, नकिः, माकिः, यात्, सीम्, स्विद् आदि कुछ और निपात भी मिलते हैं ।
- (२) ‘न’ निषेधार्थक होने के अतिरिक्त वेद में उपमार्थक भी होता है । यह निषेध्य-परक शब्द से पूर्व प्रयोग होने पर निषेधार्थक तथा उपमान-परक शब्द के पीछे आने पर उपमार्थक होता है, तु. (कमशः) नेन्द्र देवम् अमंसत, पक्वा शास्त्रा न ।

(ज) वैदिक स्वर—

वैदिक भाषा का उच्चारण अक्षरों के गान-प्रकारक उतार-चढ़ाव (लय) के साथ होता था । उतार वाला उच्चारण (स्वर) अनुदात्त और चढ़ाव वाला उच्चारण (स्वर) उदात्त कहलाता था । इन दोनों स्वरों वाले अक्षरों के संघान अथवा सांनिध्य होने से इन दोनों से पृथक्-प्रकारक तीसरा स्वर पैदा होता था, जिसे स्वरित कहा जाता था । तब उदात्त से भी तनिक अधिक उतार के साथ आगम्य होता

अनुदात्त के स्तर पर उतर जाता था। उक्त संधान तथा सानिध्य के फल-स्वरूप यह स्वरित स्वर क्रमशः दो प्रकार का हो जाता था, स्वतन्त्र और परतन्त्र (छायात्मक)। उदात्त और अनुदात्त के संधान से परिणत स्वरित को आधुनिक विद्वान् स्वतन्त्र स्वरित कहते हैं†। जब अनुदात्त स्वर उदात्त स्वर के पीछे उस से सटा हुआ परन्तु उस से असंहित रहता हुआ आता था, तो वह स्वरित बन कर उच्चरित तो होता था, परन्तु उदात्त का ही छायारूप होने के कारण परतन्त्र रहता था। वह स्वतन्त्र रूप से किसी अक्षर का स्वर नहीं बन सकता था। इस प्रकार, चढ़ाव से विशिष्ट होने के कारण उदात्त और स्वतन्त्र स्वरित ही दो मुख्य स्वर होते थे। एक पद में एक अक्षर हो अथवा अनेक अक्षर हों, उस का एक समय में कोई-सा एक अक्षर ही उदात्त अथवा स्वतन्त्र स्वरित हो सकता था। उस में यदि उस एक अक्षर के अतिरिक्त एक या अधिक और भी अक्षर हों, तो वे सब अनुदात्त ही रहते थे।

कुच्छ थोड़े से ऐसे पद भी थे, जो किन्हीं विशेष भाषिक कारणों से नित्य अनुदात्त ही रहते थे, जैसे समह, स्विद्, स्म आदि अथवा जिन के अनेक अक्षरों में से दो-दो अक्षर उदात्त भी पढ़े जाते

† प्राचीन लक्षणकारों ने इस स्वरित के भेद भिन्न-भिन्न नामों से संकेतित किये हैं। उनके ये तीन मुख्य हैं—(१) क्षैप्र (यण्-संधि)—त्रि + अम्बक > त्र्यम्बक—; (२) प्रश्लिष्ट (दीर्घसंधि)—अभि + इन्धाम् > अभीन्धाम् ; (३) अभि-निहित (पूर्वरूपसंधि)—ते + अप्सरसाम् > तैऽप्सरसाम्। इनके अतिरिक्त, कन्या, क्व आदि कुच्छ शब्दों में पाया जाने वाला सहज स्वरित 'जात्य' नाम से कहा है।

वस्तुतः जात्य भी क्षैप्र के अन्तर्गत समझना चाहिए। कारण, जात्य स्वरित भी विशेष संधान से होता था। यद्यपि वह संधान प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। यथा - कं < कु + अ (पा ५, ३, १२)।

थे, जैसे बृहस्पति आदि । इस प्रकरण में प्रयुक्त 'अक्षर' शब्द एकाच् का पर्याय है, जो चार प्रकार का होता है—(१) केवल एक अच् (स्वर) के रूप में (तु. आ), (२) हल्-पुरोगत एक अच् के रूप में (तु. च), (३) हल्-अनुगत एक अच् के रूप में (तु. उच्) और (४) हल्-पुरोगताऽनुगत एक अच् के रूप में (तु. वृच्) । यही अक्षर 'उदात्त', 'अनुदात्त' अथवा 'स्वरित' स्वर का विषय बनता है ।

वैदिक युग की अन्तिम शतियों में 'उदात्त' आदि स्वर-भेद से मुक्त उच्चारण का विकास हुआ । फलतः, तत्कालीन पठित वर्ग दो प्रकार का उच्चारण करते थे, (१) वैदिक ऋचाओं आदि का तो उदात्त आदि स्वरों के सहित और (२) व्यावहारिक 'भाषा' का उन स्वरों से विलक्षण सामान्य 'एक-श्रुति' स्वर के सहित । ज्यों-ज्यों समय निकलता गया, स्यों-स्यों वेद-पाठ के उक्त स्वरों की अभ्यस्त रखने के लिए उन्हें चोराति-घोर परिश्रम करना पड़ा, जिसे उन्होंने श्रद्धापूर्वक जी-जान से किया । वे जब वेद-पाठ करते थे, तो विशेष प्रक्रिया के अर्चन अपना दक्षिण हाथ हिला-हिला कर 'उदात्त' आदि स्वरों का सूक्ष्म विवेक स्मरण करते हुए पढ़ते चले जाते थे । धीरे-धीरे जब वेदों को लेख-बद्ध करने की प्रथा चल पड़ी, तो रेखाओं, संख्याओं तथा अन्य कई-एक विशेष चिह्नों द्वारा 'उदात्त' आदि स्वरों का प्रदर्शन किया जाने लगा । इस प्रकार 'स्वराङ्कन' के विविध प्रकार प्रचलित हुए, जिन में से कुछ-एक ही अब देखने में आते हैं, शेष अपने आधारभूत असंख्य वैदिक ग्रन्थों के साथ ही लुप्त हो चुके हैं ।

इस समय जो संहिताओं और ब्राह्मणों के ग्रन्थ मिलते हैं, उन में 'स्वराङ्कन' के उत्तरोक्त चार प्रकार मुख्यतः पाए जाते हैं—

- (१) ऋग्वेद, अथर्ववेद (शौनक), तथा यजुर्वेद (माध्यन्दिन, काण्व और तैत्तिरीय) में 'उदात्त' अक्षर को अचिह्नित रख कर उस से पूर्ववर्ती 'अनुदात्त' अक्षर के नीचे पड़ी रेखा और उस

से उत्तरवर्ती 'छाया-स्वरित' के रूप में परिणत हो रहे 'अनुदात्त' अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा लगाई जाती है, तु. अग्निना ।

(२) यजुर्वेद (काठक तथा मैत्रायणी) तथा अथर्ववेद (पैप्पलाद) में 'उदात्त' अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा दी जाती है, काठक में 'अनुदात्त' तथा 'छाया-स्वरित' अक्षरों को अचिह्नित छोड़ा जाता है (तु. अग्निना) । परन्तु मैत्रायणी तथा पैप्पलाद में दोनों को चिह्नित किया जाता है; तु. क्रमशः अग्निना, अग्निना ।

(३) शतपथ ब्राह्मण में 'उदात्त' अक्षर के नीचे पड़ी रेखा दी जाती है और दूसरे उक्त दोनों स्वर अचिह्नित रहते हैं, तु. अग्निना ।

(४) सामवेद (कौथुम) में 'उदात्त' अक्षर के ऊपर १, उस से पूर्ववर्ती 'अनुदात्त' अक्षर पर ३ और उस से उत्तरवर्ती 'छाया-स्वरित' अक्षर पर २ के अङ्क दिए जाते हैं, तु. अग्निना ।

इस वेद-सार ग्रन्थ में दोनों 'अनुदात्त' और 'छाया-स्वरित' अक्षरों को अचिह्नित छोड़ कर प्रत्येक पद का केवल एक मुख्य स्वर ही प्रदर्शित किया गया है, यदि वह, 'उदात्त' है, तो संबन्धित अक्षर के नीचे पड़ी रेखा द्वारा और यदि वह 'स्वतन्त्र स्वरित' है, तो संबन्धित अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा द्वारा, तु. अग्निना, कन्या ।

वैदिक स्वरों का बोध वेदार्थ समझने में बड़ा उपयोगी होता है । अनेक ऐसे पद हैं जो स्वर-भेद के कारण भिन्न-भिन्न अर्थों को कहते हैं, तु. यशस्- 'कीर्ति'; यशस्- 'कीर्तिमान्'; एवं राज-पुत्र- 'राजा का पुत्र', राजपुत्र- 'राजा का पिता' ।

◀श) पद-पाठ—

एक-एक मन्त्र में कई-कई पद होते हैं । संहिता-पाठ में उन्हें

परस्पर संहित करके पढ़ा जाता है। इस कारण साथ-साथ आने वाले पदों के आदिम तथा अन्तिम अक्षरों के स्वर प्रायः विपरिणत हो जाते हैं। पद-पाठ में मन्त्रस्थ प्रत्येक पद को पृथक् पढ़ा जाता है। इस कारण उसका अपना वास्तविक स्वर स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है, तु. (ऋग्वेदीय स्वराङ्कन की पद्धति के अनुसार संहितापाठ में) अग्निर्मिले और (उसी पद्धति के अनुसार पदपाठ में) अग्निम्। ईले। संहिता-पाठ में भी असंहित ही रहने वाले प्रगृह्य-संज्ञक ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त तथा ओकारान्त (अग्नी, विष्णू, फले, आहो प्रभृति) पदों एवं रेफजन्यविसर्गान्त (अकः प्रभृति) क्रियापदों के आगे 'इति' पढ़ कर पद-पाठ उनकी विलक्षणता को विशेषतः प्रकट करता है। इसी प्रकार वह (प्र-जा, प्रजा-पतिः, प्रजापति-सृष्टः प्रभृति) समस्त पदों के अवयवों को अवगृहीत अर्थात् पृथक्-पृथक् करके पढ़ता है। पृथक् पदों की अन्तर्वर्ती प्रकृतिओं और कुच्छ-एक प्रत्ययों को भी वह अवगृहीत कर देता है, तु मधु-मान, देव-त्वम्, हरि-भ्याम्, अप्सु प्रभृति।

(अ) छन्द—

वेद-मन्त्र पर्याप्त संख्या में पाए जाने वाले विभिन्न छन्दों में प्रकट हुए हैं। इनमें से सात मुख्य छन्दों की इनके पादों तथा अक्षरों की विहित संख्या पर आश्रित तालिका इस प्रकार बनती है—

१. गायत्री	२४ अक्षर	३ पाद	(८+८+८)
२. उष्णिह्	२८ „	३ „	(८+८+१२)
३. अनुष्टुम्	३२ „	४ „	(८+८+८+८)
४. बृहती	३६ „	४ „	(८+८+१२+८)
५. पंक्ति	४० „	५ „	(८+८+८+८+८)
६. त्रिष्टुम्	४४ „	४ „	(११+११+११+११)
७. जगती	४८ „	४ „	(१२+१२+१२+१२)

इन में से संख्या १, ३, ४, ६ व ७ के उदाहरण वेद-सार के संख्या ५, ४४, १००, ४ व २ के मन्त्रों में क्रमशः पाए जाते हैं ।

वेद में अक्षरीय छन्द ही मिलते हैं । मात्रीय छन्दों का प्रचार अभी नहीं हो पाया था । प्रत्येक छन्द का पाद उक्त-प्रकारक निश्चित अक्षर-संख्या पर आधारित रहता था । फिर भी, प्रमुख छन्दों में पाद के अन्तिम चार अक्षरों की मात्रा, अर्थात् उनकी गुरुता-लघुता का भी ध्यान रखा जाता था । इसलिए जहाँ गायत्री, अनुष्टुप् और जगती छन्दों के प्रत्येक पाद के अन्तिम चार अक्षरों का माप ५ - ५ -, वहाँ त्रिष्टुप् छन्द के पाद का अवसान-माप ५ - - होता था ।

वेद-मन्त्रों का प्राथमिक प्रकाश जिस सुदूरवर्ती युग में हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है कि उस में वैदिक छन्दों के पाद अक्षर-संख्याओं तथा अवसान-मात्राओं दोनों, की दृष्टि से ठीक मपे-तुले थे । काल-क्रम से, एक ओर तो, वाचनिक विकार के और, दूसरी ओर, अन्तः-पद और अन्तः-पाद वर्ण-सन्धि की उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई हुई प्रवृत्ति के फल-स्वरूप वेद-मन्त्रों की अक्षर-संख्या संकुचित सी होती चली गई । प्राचीन अनुक्रमणीकारों ने इस प्रकार से हुई एक अक्षर अथवा दो अक्षरों की न्यूनता को क्रमशः 'निचृत्' और 'विराज्' की संज्ञा दी । इस प्रकार, जिस गायत्री छन्द वाले मन्त्र की कुल अक्षर-संख्या २३ बनी, उसे 'निचृद्-गायत्री' और जिस की २२ बनी, उसे 'विराड्-गायत्री' कहा गया । इसी प्रकार से अन्य छन्दों की अक्षर-न्यूनता के बारे में भी अङ्कित किया गया ।

उन लक्षणकारों ने इस से विपरीत दशा भी देखी, जिस में उन्हें विभिन्न छन्दों की अक्षर-संख्या में एक अक्षर या दो अक्षरों की अधिकता का भान हुआ, उसे उन्होंने क्रमशः 'भुरिज्' और 'स्वराज्' की संज्ञा दी । परन्तु ऐसा लगता है कि आलोचनात्मक अध्ययन के उपरान्त ऐसे मन्त्र संभवतः निष्कल ही न सकें, जिन में वस्तुतः अक्षर-वृद्धि ही हुई हो । हो सकता है कि अनुक्रमणी में जिस मन्त्र को उदाहरणतः, 'भुरिज्' या

‘स्वराज्’ गायत्री कहा हो, वह वस्तुतः ‘निचृत्’ या विराज्’ उष्णिह् ही हो । अतः, यह अत्यन्त अपेक्षित है कि एक-एक मन्त्र की ठीक-ठीक छान्दस स्थिति को समझने के लिए उसके एक-एक पद के प्रामाणिक पाठ की वैज्ञानिक ढंग से पूरी-पूरी व्यवस्था की जावे । वस्तुतः, छन्दो-मीमांसा और पाठ-मीमांसा के दोनों विज्ञान एक-दूसरे के परम-सहायक विज्ञान हैं ।

परिशिष्ट (२)

विशिष्ट-पद—कोष†

(वैयाकरण-टिप्पण-युत)

†संकेतों व संक्षेपों की तालिका

•	=	उपकल्पित	द्वि.	=	द्वितीया विभक्ति
✓	=	धातु का निर्देशक	न.	=	नपुंसकलिङ्ग
>	=	परिवर्तन (पूर्ववर्ती का उत्तरवर्ती के रूप में)	ना.	=	नामपद
<	=	परिवर्तन (उत्तरवर्ती का पूर्ववर्ती के रूप में)	नाधा.	=	नामधातु
१, २, ३	=	(क्रमशः) एकवचन, द्विवचन, बहुवचन	नि.	=	निपात
[संख्या]	=	संग्रह की मन्त्र संख्या	पं.	=	पञ्चमी विभक्ति
अव्य.	=	अव्यय	पपा.	=	पदपाठ
अस.	=	अध्ययीभावसमास	पुं.	=	पुंलिङ्ग
आ.	=	आत्मनेपद	प्र.	=	प्रथमा विभक्ति (प्रातिपदिक के साथ),
आलि.	=	आशीर्लिङ्	,,	=	प्रथमपुरुष (क्रि. के साथ)
उ.	=	उत्तमपुरुष	,,	=	प्रत्यय (धातु के साथ)
उस.	=	उपपदसमास	बस.	=	बहुव्रीहिसमास
कप्र.	=	कर्मप्रवचनीय	भा.	=	भावपद
कवा.	=	कर्मवाच्य	म.	=	मध्यम पुरुष
क्रि.	=	क्रियापद	यनि.	=	यथानिर्दिष्ट
क्रिवि.	=	क्रियाविशेषण	वावि.	=	वाचनिक विकार
गस.	=	गतिसमास	वि.	=	विशेषण
च.	=	चतुर्थीविभक्ति	विलि.	=	विधिलिङ्
तस.	=	तत्पुरुषसमास	वैतु.	=	वैपरीत्येन तुलनीय
तु.	=	तुलनीय	ष.	=	षष्ठी विभक्ति
तुस.	=	तृतीयासमास	स.	=	सप्तमी विभक्ति
			सं	=	संबोधन
			सना.	=	सर्वनाम
			स्त्री.	=	स्त्रीलिङ्ग

अकरम् [१६३]—क्रि., <√कृ
'करणे', लुङ् उ१ ।

*अकवे [३१]—अ-कवा-, वि.,
(विशाला [भूमि]), *अ-खर्वा-
>(वावि.) यनि., सं१ (वैतु.
पपा. कवे।) ।

अक्षभिः [३]—अक्षन्-, ना.
(नेत्र-), तृ३ । वेद में अक्ष-,
*अक्ष-, अक्षि-, अक्षी- तथा
अक्षन्- शब्दों के रूप मिलते हैं।

अक्षितम् [११२]—, वि. (प्रह), <अ
(न)+√क्षि 'क्षये'>क्षित, तस. ।

अगन्म [५८]—उद्...अगन्म,
क्रि., √गम् 'गतौ', लुङ् उ३ ।

अघायतः [१०]—अघायत्-, ना.
(शत्रु), <(अघ। *हिंसा)>
√अघाय) शत्रु, द्वि३ ।

अघायोः [१२०]—अघायु-, ना.
(शत्रु), <√अघाय, पं.१ ।

अजिरम् [१५९]—वि. (यद्), <
अ(न)+√जृ'वयोहानौ',=अजरम् ।

अतितृणम् [११७]—भा., <अति
+√तृद् 'छेदने'+क्त प्र. ।

अतिष्ठावान् [१३४]—वि. (हस्तिन्),
<(अति+√स्था>भावे)
अतिष्ठा+मतुप्, प्र१ ।

अदब्धासः [१]—अदब्ध-, वि.
(धोखे से रहित [क्रतु]), <अ
(न)+(<√दम् 'दम्भे'>) दब्ध,
तस. ।

अदितिम् [८]—अदिति-, वि. (नौ)
<अ (न)+(<√दो 'अवखण्डने'
>) दिति (खण्डित), तस.,
द्वि१ ।

अद्वयाः [३३]—वि. पुं. (अज्ञ),
<अ (न)+द्वयस् (वि.) वियुक्त
होने वाला), तस., प्र१ ।

अद्विषेण्यः—वि. (अज्ञ), <अ(न)+
द्विषेण्य(वि)<√द्विष्), तस. ।

अधरस्याः [२१३]—अधरा-,
सना. स्त्री., पं१ ।

अध्वराय [५४]—अध्वर्-, ना.
(यज्ञ, पूजा), >√*अध्
(*ऋध्) 'आराधने' ।

अनमित्रम् [४४]—अनमित्र-, भा.,
<अन् (न)+अमित्र, बस. ।

अनागसम् [८]—अनागस्-, वि.
(नौ), <अन् (न)+आगस्
(अपराधयुक्त), तस. ।

अनाहुतिम् [१०]—भा., <अन्
(न)+(<आ+√हु 'आदाने'>)
आहुति (प्राप्ति, बलवत्ता), तस. ।

अनु [१३६]—कप्र. (व्याप्ति),
जनान् (द्वि३) से युक्त ।

अनुराध्यास्म [४६]—क्रि., <अनु
✓राध् 'संसिद्धौ', आलि. उ३ ।

अनूप्याः [२७]—अनूप्याः, बि.,
स्त्री. (दलदल में होने वाला [अप्]),
<अनूप (<अनु+अप्) + यत्
प्र., प्र३ ।

अनूराधम् [४६]—अनूराध-, भा.,
<अनु+✓राध् 'संसिद्धौ', क्रिवि.
न. द्वि१ ।

अनृक्षरा [३०]—अनृक्षरा-, वि.
(पृथिवी), <अन् (न)+ऋक्षर
(कण्टक) <✓ऋष्=रिष् 'हिंसा-
याम्', बस. ।

अनेहसम् [८]—अनेहस्-, वि.(नौ),
<अन् (न)+एहस् (संकट), बस. ।

अन्तरम् [१७१]—अन्तर-, ना.
(रक्षार्थव्यवधायक [ओट, ढाल]) ।

अन्ति [४]—अव्य.(समीप, अन्तिक),
'सप्तम्' [द्वि.] के साथ संबद्ध ।

अपरीतासः [१]—अपरीत-, वि.
(अबाधित-[कतु]), <अ (न)+
(परि [=प्रति] + ✓इ 'गतौ') >
परीत-, तस., प्र३ ।

अपश्चादग्धा [७१]—वि.(पीछे न

पहुंचने वाला [मैं]), <अ (न)+
पश्चा+(✓दग् 'प्राप्तौ') > दग्ध,
प्र१ ।

अपसः [१५५]—अपस्-, ना, पुं.
(कर्मवीर), <✓*अप् 'कर्मकरणे'
+असिः प्र., प्र३ । आशुदात्त
अपस्- न. कर्म का वाचक है ।

अप्रयातम् [६७]—क्रिवि.
(व्यवधानरहित, निरन्तर), <अ-
(न) + (प्र+✓या) > प्रयात,
तस. ।

अप्रयुच्छन् [१७०]—°च्छन्-, वि.,
<अ(न)+प्र+✓युच्छ्, 'प्रमादे' ।

अप्रायुवः [९]—अ-प्रायु-, वि.
(अपराध-रहित [देव]), <अ
(न)+अप-राध > *अपराध् >
[वावि.]) *प्रायू-, तस., प्र३ ।

अभिभाः [१२४]—अभि-भा-, भा.
(शत्रुता), <अभि+भा (<✓भा
[=*मा] *हिंसायाम्')], गस. ।

अभिष्टये [२५]—अभिष्टि-, भा.,
<*अभ्यष्टि- (<अभि+✓अष्ट
'व्याप्तौ=प्राप्तौ') >] अष्टि), गस.,
च१ ।

अभिहितः [९]—अभि-हित-, वि.
(दुरेवा), <अभि+✓हित् 'कौटिल्ये'
पं१ ।

अभूत्याः [१७१]—अ-भूति-, भा.

अबुद्धि, बेहोशी), पं१।

अमः [१७९]—अमस्-, ना.(बल),

<√अम् 'बले', असुन्, प्र१।

अमा [१४]—अव्य. (गृहे)।

अमीवाम् [१०]—अमीवा-, ना.,

स्त्री.(रोग), <√अम् 'रोगे', द्वि१।

अम्भः [१७९]—अम्भस्-, ना.

(शक्ति-), <√अम् 'सामर्थ्ये'।

अयक्षम् [१८१]—अ-यक्षम्-,

भा., <अ(न)+यक्षम्-, बस.।

अया [५७]—(अनया), <इदम्

तृ१।

अयुतः [११४]—अ-युत-, वि.

(अहम्), <अ(न)+युत-

(<√यु 'अमिश्रणे [हानौ]'),

तस.।

अरणे [१४]—अरण-, ना. (विदेश,

बाहर), <√*अर् 'पृथग्-भावे',

स१।

अरम् [२४]—अव्य. (अलम्)।

अररुषीः [४६]—अररिबस्-, वि.,

स्त्री. (सेना), < (√*अर्

'हिंसायाम्' >) अररि+कसुन्,

प्र३।

अरातिम् [१०]—अराति-, भा.

(शत्रुता), <√*अर् 'हिंसायाम्'।

अरिष्टः [११]—अ-रिष्ट-, वि.

(हानि-रहित [मर्ते]), <अ(न)+

रिष्ट(<√रिष् 'हिंसायाम्'), तस.

अरिष्टतातये [१५२]—अरिष्ट-

ताति-, भा. (अरिष्ट), च१।

अर्णः [७७]—अर्णस्-, ना. (शब्द),

<√ऋ "शब्दे"।

अवसे [९]—अवस्-, भा., <√अव्

'रक्षणे', च१।

अशस्तिम् [२०८]—अ-शस्ति-,

भा., अ(न)+शस्ति-(<√शस्

'हिंसायाम् छेदने'), तस.।

अशीय [१००]—क्रि., <√अश्

'प्राप्तौ', आ. आलि. उ१।

अशोणाः [११५]—अ-शोण-, विप.

(दन्त), <अ(न)+शोण(रक्तवाही),

तस.।

अश्वन् [१०]—क्रि., <√श्रु

'श्रवणे', भ्वादि, लङ् प्र३।

अश्वावतीः [५५]—अश्वावती-,

वि. (उषस्), प्र३।

असचध्वम् [१६९]—क्रि., <

√सच् 'समवाये', लोट्, म३।

असन् [१]—क्रि. (हौ), <√अस्

'भुवि', लेट् प्र३।

असपत्नम् [११९]—अ-सपत्न-,
भा., < अ (न) + सपत्न-
(< सपत्न्य- [शत्रुता], < √ सप्
‘शापे’), बस. ।

अस्तृतः [११०]—अ-स्तृत-, वि.
(नाशरहित [मै]) < अ (न) + स्तृत
(< √ स्तृ ‘हिंसायाम्’, भा.
[नाश]), बस. ।

अस्मृति [१६५]—क्रि.वि. (अ-स्मृत्या),
< अ (न) + स्मृति, तस., न. द्वि१ ।

अस्मे [१०३]—= अस्मभ्यम्, <
अस्मद्- ।

आ [१५०]—क्रि., *आः, (√ अस् ‘भुवि’
लिट् प्र१ >) आस > (वावि. यनि. ।

आकूतिः [१०१]—आ-कूति-, भा.
(सूक्ष्म), < आ + √ कू ‘चिन्तने’ ।

आगन् [१०९]—आ-अगन्, क्रि., <
आ + √ गम् ‘गतौ’, लेङ्गर्थे लुङ् प्र१ ।

आगमन्तु [१०३]—क्रि. (आगच्छन्तु),
आ + √ गम्, अदादि, लोट् प्र३ ।

आगहि—क्रि. (आगच्छ), < अ
+ √ गम्, अदादि, लोट् म१ ।

आधीतम् [१७७]—आ-धीत-, भा.
< आ + √ धी (< √ ध्यै ‘चिन्ता-
याम्’), प्र१ ।

आघ्नः [५०]—आघ्न-, ना. (मन्द)

√ *आध् (= बाध्) > *आध्वर >
(वावि.) यनि. ।

आमृच्छति [३४]—° बा°, क्रि.,
< आ + √ मृच् ‘प्रसादे’, लेट्
प्र१ ।

आयेजे [६]—क्रि. (= आ + ईजे > एजे
[यज्ञ किया था]), < आ + √ यज्
‘पूजायाम्’, लिट्, आ. प्र१ ।

आरुहेम [८]—क्रि. (आरोहेम),
< आ + √ रुह् तुदादि, विलि. उ३ ।

आरे [१०]—अव्य. (आरात्, दूरे) ।

आर्त्ता [८४]—आर्त्ति-, ना. स्त्री.
(कोटि), प्र२ ।

आशसा [८१]—आ-शस्-, ना.
(आशा), वृ१ ।

आस—क्रि., < √ अस् ‘भुवि’, लिट्
प्र१ ।

आहाः [१९९]—आ-अहाः, क्रि.,
< आ + √ ह् ‘हरणे’, लुङ् प्र१ ।

इद् (त्) [१४]—अव्य. एवार्थे ।

इन्द्रसानसिम् [१२]—वि. (रथ),
< इन्द्र + (√ सन् ‘प्राप्तौ’ >) सान-
सि-, उ३., द्वि१ । पपा. में दो पद
मानकर ‘इन्द्र’ सं१ माना है ।

इषा [६७]—इष्-, ना. (धनधान्य,
अन्न), < √ इष् ‘*पुष्टौ’, वृ१ ।

इषुः [६८]— इषु-, भा. स्त्री.
(तीव्रता), <✓इष् 'प्रेरणायाम्'।

ईमहे [६३]—कि., <✓ई 'गतौ',
अदादि, लट् उ३।

ईशिरे [७]— कि. (ईशाश्चकिरे),
<✓ईश् 'ऐश्वर्ये', लिट् प्र३।

उ [१६]— नि. चार्थे । पपा. ओम्
इति ।

उग्रा [४८]—उग्र-, वि. (बाहु), प्र२।

उष्णरत् [६१]— कि., <उद्+
✓चर् 'गतौ', लुङ्थे लङ् प्र१,
अद् का अभाव ।

उरुच्छन्तु [५५]— कि., <✓उच्छ
'दीप्तौ', लोट् प्र३।

उदन्वृत्तीः [१८]— वि., स्त्री (अप्)
<उदन् (रस) + मतुप्, प्र३।

उद्वा [५१]—उद्-अव, कि., <उद्+
✓अव् 'रक्षणे', लोट् म१।

उदितौ [५२]— उद्-इति-, ना.
(उदय), <उद्+✓इ 'गतौ', स१।

उदैति [१५४]— कि., <उद्+
✓'आय् [✓अय् 'गतौ']> लट्
प्र१ *उदायति> (वावि.) यनि.।

उद्भिदः [१]— उद्-भिद्-, वि.
(उन्नतिकारक [क्रु]), ✓उद्+
✓भिद् 'विकासे', प्र३।

उद्यन् [५९]—उद्-यत्-, वि. (सूर्य),
उद्+✓इ 'गतौ', शतृ प्र१।

उद्यमानम् [९०]— उद्यमान-, वि.,
<✓वद् 'कथने', कवा., शानच्, ।

उपगुः [४६]— कि., <उप+✓गा
'गतौ', लुङ् प्र३। 'मा' के योग में
अद् का अभाव ।

उपतप्यामहे [८७]— कि., <उप+
✓तप् 'संतापे', कर्मकर्तृ आ. उ३।

उपशेकिम् [१६१]— कि., <उप+
✓शक् 'शक्नौ', लिट् उ३।

उपसेदिमा [२]— °दिम, कि.,
<उप+✓सद् 'प्राप्तौ', लिट् उ३।

उपारिम् [१६५]— उप-आरिम्,
कि., <उप+✓ऋ, लिट्
उ३।

उरु [१८]—उरु-, वि. न. (विस्तृत
[अन्तरिक्ष]), <✓वृ *वृद्धौ, प्र१।

उरुक्रमः [१६]— °म-, वि. (विष्णु),
< उरु + ✓कम् 'पादविक्षेपे',
उस., प्र१।

उरुचक्षाः [१६]— उरु-चक्षस्-,
वि. (सूर्य), < उरु+✓चक्ष् 'दर्शने'
उस., प्र१।

उर्वाःरुक्म [७४]— °कु-, ना. (तर-
बूज), <उरु + वार् (जल)।

उर्वीः [१२४]— उर्वी-, ना. स्त्री.
(दिशा), <उर्व, सं३ स्वराभाव ।

उशतीः [२३]— उशती-, वि. स्त्री.
(मातृ), <√वश् 'कामनायाम्',
शतृ, प्र३ ।

ऊतये [९]— ऊति-, भा., स्त्री
(रक्षा), <√अव् 'रक्षणे', क्तिन्,
च१ ।

ऊधभिः [५६]— ऊधन-, ना.,
ऊर्ज (भोजन, दूध) > *ऊर्ग्-ध >
(वावि.) यनि., हेत्वर्थे तृ३ ।

ऊर्जे [२२]— ऊर्ज-, ना. च१ ।

ऊर्मिम् [३५]— ऊर्मि-, ना. (अन्न)
*ऊर्मि (<ऊर्ज् + स्वार्थे मि प्र.)
> (वावि.) यनि ।

ऋजूयताम् [२]— ऋजूयत्-, वि.
(देव), <√ऋजूय ('अनुकुल
होना' [नाघा.] <ऋजु), ष३ ।

ऋधेम [७०]— क्रि. (ऋध्याम्),
<√ऋध् 'वृद्धौ' तुदादि विलि. उ३ ।

एधि [२१]— क्रि. (ऐतु), *आ+
एधि (<अयति । <√इ 'गतौ'
लेट् ॥) > यनि. ।

एधिषीमहि [१११]— क्रि., <
√इध्, इन्ध 'दीप्तौ', आलि., उ३ ।

*एनसः [७]— एनस्-, ना. (पाप) ।
परि के योग में पं१ ।

एनस्यः [१६३]— *स्य- वि. (पापी
[मैं]), <एनस्, तस्येदम् अर्थ
में यत् ।

एमः [१९०]— एम-, भा.
(चलना- फिरना), <√इ 'गतौ' ।

एवा [१४२]— एव, नि. (एवम्) ।

ऐत [२१६]— क्रि., <आ+√इ
'गतौ', लङ् म३ (वैतु. प१।
<√इ इति) ।

ओतम् [१५८]— ओत-, वि., <आ
+√वे 'तन्तुसंताने', क्त प्र. ।

ओषधीः [१८]— ओषधि-, ना., प्र३ ।

औद्भिद्यम् [१८४]— *द्य- ना.
(उपज) <उद्भिद् + समूहेऽर्थे प्यम् प्र. ।

कः [७९]— क्रि., <√कृ 'करणे',
लेडर्थे लुङ् म१ ।

कतम् [१०९]— सना. (कदा),
*कतम्-वृत् ([समय [कस्मिन् समये])
> (वावि.) यनि. ।

कनिक्कदत् [२०]— *दत्- वि.
(देव [मेघ]), <√कन्द्
'शब्दे', यङ्लुक्, शतृ प्र१ ।

करति [४०]— क्रि., <√कृ 'करणे',
भ्वादि, लेट् प्र१ ।

करामहे [१०२]— क्रि., √कृ 'स्तुतौ'
भ्वादि, लेट् उ३ ।

कर्त [६]—कि. (कुरुत), < ✓ कृ 'करणे', अदादि, लोट् म३ ।	गन्तोः [४]— गन्तु-, भा. (गमन), < ✓ गम् 'गतौ', ष१ ।
कल्पयाति [१०५]— कि., < ✓ कल्प [कल्प], लोट् प्र१ ।	गमाम [२४]— कि., < ✓ गम्, भ्वादि, लोट् उ३ ।
कुयवम् [१८५]— कु-यव-, अकु- (तु. बहु, अक्षु)+यव (धान्यादि), बस. *अकु-यव- (वावि.) यनि. ।	गमेमहि [८५]— कि., सुम्...गमे- महि < ✓ गम्, भ्वादि, विलि. उ३ । सम् के योग में आ. ।
कृणोत [१२४]—कि. (कुरुत), ✓ कृ 'करणे' स्वादि, लोट् म३ ।	गिरः [१४६]— गिर्-, ना. (पुरोहित), < ✓ गृ 'शब्दे', सं३ ।
कृणोतु [१२]— कि. (करोतु) ।	गोपीधाय [११०]— गोपीधृ-, भा. (संरक्षण), ✓ गुप् > गोप > यानि. ।
कृत्रिमा [५]— वि. स्त्री. (बनावटी, स्वयमुत्पादित [शरु]), < ✓ कृ 'करणे', त्रिम प्र. ।	ग्रहम् [११२]— ग्रह-, ना. (सोमपात्र), < ✓ ग्रह 'ग्रहणे' ।
कृधि [४५]— कि. (कुरुष्व), < ✓ कृ 'करणे', लोट् म१ ।	घर्मे [११३]— घर्मे-, ना., (कड़ाही), < ✓ घृ 'क्षरणदीप्त्योः' ।
कृतवः [१]— कृतु-, भा. (विश्वास), < ✓ कृत् 'श्रद्धायाम्', प्र३ ।	घासम् [६७]— घास-, ना., < ✓ घस् 'भोजने' ।
कृतवे [१९५]— कृतु-, भा., च१ कृतवे > (वावि.) यनि. ।	घृतप्वः [२८]— घृत-पू-, वि., स्त्री, (अप), प्र३ ।
क्षयाय [२४]— क्षय-, भा. (स्थिरता), < ✓ क्षि 'निवासे' ।	चक्रा [४]— चक्र, कि., < ✓ कृ 'करणे' लिट् म३ ।
क्षयेम [४८]— कि., < ✓ क्षि 'निवासे, आश्रये', भ्वादि, विलि. उ३ ।	चक्रवम् [१९३]— चक्रवृत्-, वि., < ✓ कृ 'करणे', कसु, द्वि१ =चक्रवासम् ।
खनित्रिमाः [२७]— खनित्रिमा-, बिप. (अप) स्त्री. < ✓ खन् 'खनने' ।	

- चक्षसे [२२]-- चक्षस्- भा.,
 < ✓ चक्ष् 'दर्शने', च१ ।
 अथवा ✓चक्ष् + तुमर्थे असेन् प्र. ।
- चरणे [१६५]-- चरण-, भा.
 (आचरण), < ✓ चर् 'गतौ' ।
- चेतन्ती [७६]-- वि. स्त्री. (चेतयन्ती
 [सरस्वती]), < ✓ चित् 'संज्ञाने',
 शतृ, प्र१ ।
- चोदयित्री [७६]-- वि. स्त्री.
 (सरस्वती), < ✓ चुद् 'प्रेरणे', तृच् ।
- जुगत् [१८०]-- जुगत्-, ना.
 (संप्रह), < ✓ *जग् 'बन्धने' ।
- जुगतः [७]-- जुगत्-, ना.
 (जङ्गम) < ✓ *जग् 'गतौ', (वैतु-
 अन्ये < ✓ गम् 'गतौ') ।
- जज्जान [१०५]-- क्रि. (जनयामास),
 < ✓ जन् 'प्रादुर्भावे', लिट् प्र१ ।
- जनिषीय [१४०]-- क्रि., < ✓ जन्
 'प्रादुर्भावे', आलि. आ. उ१ ।
- जयामसि [३४]-- क्रि. (जयामः),
 < ✓ जि ।
- जरदष्टिः [२०७]-- भा., < जरत्-
 (जरा) + अष्टि (प्राप्ति), बस. ।
- जुविष्ठम् [१५९]-- जुविष्ठ-, वि.
 (मनस्), < (✓ जु 'प्रेरणे' कर्तरि
 >) जव, अतिशयार्थे इष्टन्, प्र१ ।
- जिम्बथ [२४]-- क्रि., < ✓ जिन्व-
- 'प्रीतौ', लट् म३ ।
- जिहीळानस्य [१६७]-- जिहीळान्-
 (°डा°)-, वि., < ✓ हीङ्, हेङ्
 'अनादरे', लिट्, कानच्, ष१ ।
- जीवसे [२]-- जीवस्-, भा. (जीवन)
 < ✓ जीव् 'जीवने', च१ ।
 अथवा जीव् + तुमर्थे असे प्र. ।
- जेसा [१७९]-- जेमन्-, भा. पु.
 (विजय), < ✓ जि, 'जये'
 इमनिच्, प्र१ ।
- जैत्रम् [१८४]-- जैत्र-भा., ✓ जन् > .
 *जनित्र > (वावि.) जइत्र > यनि.,
- जोषत् [८६]-- क्रि., < ✓ जुष्
 'संभजने', लेट् प्र१.
- जोहवीमि [५३]-- क्रि., < ✓ हु < हे
 'आह्वाने', यङ्लुक्, लट् उ३ ।
- ज्ञातात् [४१]-- ज्ञात-, ना. (ज्ञाति),
 < ✓ ज्ञा 'संबन्धे' ।
- ज्ञात्रम् [१८२]-- ज्ञात्र-, भा.
 (ज्ञान) < ✓ ज्ञा 'अवबोधने', ।
- ज्योक् [२६]-- अव्य. (विरकाल तक,
 लगातार) ।
- तायमाने [८०]-- तायमान-, वि.
 (अधरे), < ✓ तन् 'विस्तारे',
 क्वा., शानच् ।
- तुरः [५०] तुर-, ना.

(वेगवान्), < √तुर् [त्वर्]
 'वेगे', प्र१ ।
तुल्य [६४]— तुल्य-, वि. (बढ़ाने
 वाला [भोजन]), √वृध् 'वृद्धौ' >
 *वद्धर् > (वावि.) यनि. ।
तुल्यवांसः [३]— तुल्यवस्-, वि. पुं,
 (*बलवान् होकर [हम]), < √स्तु
 *बले', क्वसु, प्र३ । मन्त्रार्थ में
 दिया गया √स्तु का 'स्तुति' अर्थ
 शोध्य है ।
त्रिशुक् [११३]— त्रि-शुच्-, क्वि.,
 < त्रि (*अत्यन्त) + √शुच्,
 उस., न. द्वि१ ।
त्रिषप्ताः [८२]— ण्तु-, ना.
 (२१), < त्रि + सप्तन्-, बस. ।
***त्वमिन्द्राः** [७०]— वि. (तेरे अधीन
 रहने वाला [जन]), < त्वम् +
 इन्द्र (स्वामी), बस., प्र३ (वैतु.
 संपा. *न्द्रा, पपा. त्वम्, इन्द्र)
त्विषिः [१२६]— त्विषि-, भा.,
 < √त्विष् 'दीप्तौ' ।
दक्षः [११३]— दक्ष-, भा.
 (दक्षता) ।
द्वत् [५१]— वि., < दा 'दाने',
 शतृ. प्र१ ।
दात् [८०]— कि., < √दा 'दाने'
 लेङ्गर्थे लुङ् प्र१ ।

दाशुषे [८०]— दाश्वस्-, ना.,
 < √दाश 'दाने', कसु, च१ ।
दिवेदिवे [१]— दिव्-, > दिवे
 स१, (वीप्सार्थे) यनि. ।
दुः [२०४]— कि., < √दा 'दाने'
 लुङ् प्र३ ।
दुरिता [११]— दुर्+इत्-, ना. न.
 (दुःख), < दुर् + √इ 'गतौ', क ।
 अति के योग में द्वि३ ।
दुरेवायाः [९]— दुरेवा-, ना. स्त्री.,
 दुर्+(इ 'गतौ') एव, गस., पं१ ।
दुर्विद्वन्नाम् [१०]— दुर्विद्वन्ना-, वि.
 स्त्री. (अराति), < दुर् + √विद्
 'लाभे', द्वि१ ।
दुरस्यवः [१२३]— दुरस्यु-, ना.
 (हानि चाहने वाला [शत्रु]), <
 √दुरस्य 'हिंसायाम्', प्र३ ।
दुःस्वप्न्यम् [६५]— दुःस्वप्न्य-,
 भा., < दुस् + स्वप्न, स्वार्थे प्र. ।
दुहानाः [५५]— दुहाना-, वि.
 (उषम्), < √दुह् 'दोहने', शानन्
 प्र३ ।
दुहे [१११]— कि. (=दुग्धे), <
 √दुह् 'प्रपूरणे', लट् प्र१ ।
दृशे [२६]— दृश-, भा., < √दृश
 'दर्शने', च१ ।

देवगोपाः[१४]—वि. स्त्री. (स्वस्ति) < देव+गोप(रक्षक), बस., प्र१ ।	द्विषः[४५]— द्विष्-, ना. (शत्रु), <✓द्विष् 'अप्रीतौ', द्वि३ ।
देवत्रा[५८]—अव्य. (देवेषु), सप्तमी के अर्थ में त्रा प्र. ।	द्वेषः[१०]-- द्वेषस्-, भा. (द्वेष- कृतहानि), <✓द्विष् ।
देवयन्तः[८०]— देवयन्- (देवों को चाहता हुआ [जन]), <(देव> नाधा.) ✓देवय, शतृ, प्र३ ।	धन्वन्याः[२७]-- धन्वन्या-, वि. स्त्री. (अप्), <धन्वन (मरुभूमि) + भवार्थे यत् प्र३ ।
देवहितम्[३]— देव-हित-, वि. (आयुस्), < देव+ (✓धा 'दाने' >) हित, तृस. ।	धन्वसु[१३]-- धन्वन्-, ना. (मरुस्थल), स३ ।
देवहृत्या[९]—देव-हृति-, (देव- ताओं का आवाहन करने वाली [टेर]) ना. <देव+हृति (< ✓हे 'आह्वाने'), बस., तृ१ ।	धर्मणः[११]-- धर्मन्-, भा. (विच्छेद-), <✓*धा[ट]'विदारणे'। परि के योग में पं१ । मन्त्रार्थ में उस की कर्म से सब ओर वृद्धि होती है' > 'विच्छेद के बिना' ऐसा शोध्य ।
देवहेडनम्[१६०]— देव-हेडन- भा. < देव+(✓हेड् 'अनादरे')> हेडन, उस. ।	धाः[१०८]-- क्रि., <✓धा 'धारणे', लृट् म१ ।
दोघतः[१३५]— दोघस्-, ना. (शत्रु), <✓*दुघ् 'उपतापे', शतृ, द्वि३ ।	धातवे[७९]-- धातु-, भा., <✓धा [धे] 'पाने', च१ । अथवा ✓धा + तुमर्थे तवेन प्र. ।
द्यौम्[८]— द्यौ-, वि. (दीप्यमान [नौ]), <✓दिव् 'दीप्तौ', द्वि१ ।	धियम्[५१]— धी-, ना. (स्तुति), <✓धी 'स्तुतौ', द्वि१ ।
दुपडात्[१६३]— दुपद-, ना. (खैंटा), <दु (वृक्ष)+पद, पं१ ।	धियावसुः[७५]-- वि. (सरस्वती) <(धी>) धिया+वसु (धन), बस., प्र१ ।
दुहः[४६]-- दुह्-, ना. (शत्रु), <✓दुह्, द्वि३ ।	

धिष्ण्याः [११]-- धिष्ण्य-, वि.

(यज्ञिय [अग्नि]), < (धिषणा >

धिषण्य > [वावि.] धिष्ण्य) प्र३ ।

धीतिः [१७६]-- धीति-, भा.,

> √*धी 'स्तुतौ' ।

धीमहि [६२]-- क्रि., < √धी

< √धौ 'स्तुतौ', अदादि,

विलि. उ३ ।

धुक्च [३५]-- क्रि., < √धुह्

'दोहने', आ. लोट् म१ ।

ध्रुवयः [१६]-- ध्रुवि-, वि. (ध्रुव-

[पर्वत]), < √ ध्रु 'स्थैर्ये', प्र३ ।

नक्तम् [४१]-- नक्त-, ना. (रात्रि),

< (√वृ 'आवरणे') > *वर्णक् >

*नक् (आवरण, अन्धकार) ।

नमन्त [५४]-- सम् . नमन्त, क्रि.,

< सम्+√नम् 'प्राप्तौ', लट् प्र३ ।

निगाम् [१०१]-- क्रि., नि-गाम्

< नि + √गा 'गतौ', लुङ् उ१ ।

नियच्छतु [८४]-- नि-यच्छतु, क्रि.,

< नि+√यम् [यच्छ], लोट् प्र१ ।

निरमय [८३]-- क्रि., नि-रमय, < नि

+√रम् 'स्थैर्ये', लोट् म१ ।

निर्ऋत्यै [१७२]-- निर्-ऋति-, ना.

(दुःख), च१ ।

निवृता [१२३]-- नि-वृत्-, भा.

(निम्नता), < *नि-वृत्-,

तृ१, क्वि. (तु. उद्-वत्-, प्र-

वत्- प्रमृति) ।

निर्वृतताम् [२]-- क्रि. (नितरां

वर्तताम्), < नि+√वृत् 'वर्तने',

लोट् प्र१ ।

निःशसा [१७४]-- निः-शस्-, भा.

(निराशा), < निस् √शस् 'इच्छा-

याम्', तृ१ ।

नीचीनम् [१९१]-- नीचीन-

(नीच), क्वि., न. द्वि१ ।

नृवन्तः [५१]-- नृ-वत्-, वि., <

नृ+मतुप्, प्र३ ।

नेनीयते [१५९]-- क्रि., < √नी

'प्रापणे', यङ्, लट् प्र१ ।

नेषि [४८]-- क्रि. (नयसि), < √नी

'प्रापणे', अदादि, लट् म१ ।

न्यग् [१९१]-- न्य (नि-अ)च्-

(नीचा), क्वि., < नि+√अच्,

न. द्वि१ ।

पच्यन्ताम् [२२३]-- क्रि., < √पच्

'पाके', कर्मकर्तृ, लोट् प्र३ ।

पथ्यासु [१३]-- पथ्या-, ना., स्त्री

(मार्ग), < √ पथ 'गतौ', स३ ।

पुयस्वती: [१०८]-- पुयस्-वती-, वि. (रस से भरपूर [प्रदिश]), प्र३।

परस्पान: [४७]-- वि. (इन्द्र-), <परस् (अव्य.।अत्यधिक) + √पा 'रक्षणे', उस., कर्तरि ल्युट्, प्र१।

पराचै: [१९९]-- पराच-, क्वि., <परा √अच्; तु. नीचै:)।

परावत: [१०४, १९४]-- परा-वत्-, ना., स्त्री. (दूर), <*परा-वृत् (तु. नि-वृता- प्रमृ.)।

परि [११]-- क्वि. (परित:)।

परि [९६]-- वर्जन अर्थ में कप्र. (छोड़ कर); तु. एनस: पं१।

परिधि: [२१९]-- परि-धि-, ना. (परिवेष्टन), <परि √धा।

परुषि [१७८]-- परुस्-, ना. न. (पर्व-), <पर्वस् (पर्वन्), प्र३।

१पवित्रेण [१५२]-- पवित्र-, भा. (पवित्रता), <√पू 'शुद्धौ', तु१।

२पवित्रेण [१६४]-- पवित्र-, ना. (छानने का वस्त्र), <√पू 'पवने'।

पितो [३२]-- पितु-, ना. (अन्न), √पृ'पालने' >प्रितु > (वावि.) यनि., सं१।

पीतये [२५]-- पीति-, भा., < √पी <प्याय् 'पुष्टौ', च१।

पुत्रकृथेषु [१३]-- पुत्र-कृथ- वि. (योनि), <पुत्र + √कृ 'करणे' उस., सं३।

पूर: [४१]-- पुर-, ना. (पर, अन्य, भिन्न), प्र१ (वैतु. अन्ये पुर- > पुर: इति)।

पुरपत्ता [५३]-- पुर-पृत्तु-, ना. (नायक), < पुरस् + √इ 'गतौ', उस., प्र१।

पुरन्धि: [२२३]-- पुरन्धि-, वि. (वीरप्रसविनी [योषा]), < √पुर 'वृद्धौ', प्र१।

पुरन्ध्या [६३]-- पुरन्धि-, भा. (*उत्पादनशक्ति), < √पुर 'वृद्धौ' तु१।

पुरस्कृधि [४४]-- पुरस्-कृधि, कि., <पुरस् + √कृ, लोट् म१।

पुरुहूत [७२]-- पुरु-हूत-, वि. (अग्नि), पुरु(बहु) + (√ ह्वे > हु 'आह्वाने' >) हूत, वृत्तस., सं१।

पुषेम [६८]-- क्रि. (पोषयेम), < √पुष् 'पुष्टौ', तुदादि, विलि. उ३।

पुष्करजः [१३२]-- पुष्कर-

सज्-, वि. (अश्विन्), <पुष्कर
(पुष्कल)+(<सृज् 'सृष्टौ'>)सज्
[भा.], बस., प्र२ । मन्त्र में अश्विना'
प्र२ है, अतः भाष्य शोधार्ह है ।

पृणत् [८१]-- क्रि., <√पृण
'पूरणे', लेट् प्र१ ।

पृणीतु [२६]-- क्रि., <√पृ [=प्री]
'वृत्तौ', ऋयादि, लेट् म३ ।

पृथिवीम् [८]-- पृथिवी-, वि.
(विस्तारवती [नौ]), <√प्रथ
'विस्तारे' ।

पुदाकौ [१२५]-- पुदाकु-, ना.
(सांघ), <√पृद् [वृध्] 'छेदने',
स१ ।

पोषयित्नु [३४]-- पोषयित्नु-, ना.
(पोषक, अन्नादि), <√पुष्
'पोषणे', णिच्, इत्नुच्, प्र१ ।

प्रचेतः [१६५]-- प्र-चेतस्-, भा.
(प्रकृष्टज्ञान), सं१ ।

प्रचेतसः [७]-- प्र-चेतस्-, वि.
(प्रकृष्टज्ञानवान् [आदित्य]), <प्र
+(√चित् 'ज्ञाने' > भा.) चेतस्,
बस., प्र३ ।

प्रचोदयात् [६२]-- क्रि., <प्र+
√चुद् 'प्रेरणे', णिच् लेट् प्र१ ।

प्रणेतः [५१]-- प्रणेतु-, ना., <प्र
√नी, तृच्, सं१ ।

प्रतरम् [१६९]-- क्रिवि., <प्र+तर
(=प्रतराम्) ।

प्रतारिषः [३७]-- प्र-तारिषः,
क्रि., <प्र+√तृ 'वृद्धौ', लेट्
म१ ।

प्रतिरन्तु [२]-- प्र-तिरन्तु क्रि.
(बढ़ाये), <प्र+√तृ 'वृद्धौ',
तुदादि लेट् प्र३ ।

प्रतिवेशाः [६७, ६८]-- प्रति-वेश-
(समीपवर्ती [हम]), <प्रति +
√विश् 'सहवासे', प्रादि स. ।

प्रदिवः [१४५]-- प्र-दिव्-, ना.
(देवता), <प्र+√दिव् 'दीप्तौ',
गस., प्र३ ।

प्रपित्वे [५२]-- प्र-पित्व्-, ना.,
(सायम्), प्र+(√पृ पूतौ' >)
'प्रपृत्व' > (वावि.)प्रपूत > यनि.,
स१ ।

प्रपीता [५५]-- प्र-पीता-, वि. स्त्री.
(उषस्), <प्र+√पी (<√
प्याय् 'वृद्धौ'), गस. ।

प्रपीताम् [९३]-- प्र-पीता-,

- वि. (मेधा), < प्र + √पा
'रक्षणे' ।
- प्रबुधाम् [१२३]-- प्र-बुध्-, वि.
(जन), < प्र + √बुध्, गस., ष३ ।
- प्रबुधे [१७०]-- प्र-बुध्-, भा.,
< प्र + √बुध्, गस. च१ ।
- प्रमेष्टाः [२०७]-- प्र-मेष्टाः कि., < प्र
+ √मी'हिंसायाम्', लङ् आ. म१ ।
- प्रयतिः [१७६]-- प्र-यति-, भा.,
< प्र + √यम्, क्तिन् ।
- प्रसुवाति [१०५]-- प्र-सुवाति, कि.,
< प्र + √सू 'प्रेरणे', तुदादि,
लेट् प्र१ ।
- प्रातर्जितम् [५०]-- प्रातर्-जित्-,
वि. (भग), उस., द्वि१ ।
- प्रातर्यावाणम् [१२]-- प्रातर्-,
यावन्-, वि. पुं. (रथ), < प्रातर् +
√या 'गतौ', उस., द्वि१ ।
- ब्रह्म [१५०]-- १ ब्रह्मन्-, ना. न.
(ज्योतिस्), < √बृह् 'बृद्धौ',
प्र१ ।
- ब्रह्मजूताम् [९३]-- ब्रह्म-जूता-, वि.
(मेधा), < ब्रह्मन् + √जू 'प्रेरणे',
तृत्स., द्वि१ ।
- ब्रह्मणवतीम् [९३]-- ब्रह्मण-वती-,
- वि. (मेधा-), < ब्रह्मन् (स्तुति,
वेद), मतुप्, द्वि१ ।
- ब्रह्मन् [२२३]-- २ ब्रह्मन्-, ना.
(ब्राह्मण वर्ग), स१ ।
- ब्राह्मणम् [९०, ९१]-- ब्राह्मण-, ना.,
< ब्रह्मन् (शब्दतत्त्व) ।
- भक्षी [५०]-- भक्षिन्-, ना.
(भगवान्), < √भज् 'सेवायाम्'
[अन्तर्भावितण्यर्थे] । वैतु. पपा.
√भज् > भक्षि, लुङ् उ१ ।
- भद्रम्, भद्रा, भद्राः [१०३] भद्र-
वि., नाप. (भला [तु. शम्ना. 'यद् वै
पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रं, गृहा भद्रं
प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्' इति]), <
√भद्, न्द् 'कल्याणे, सुखे' ।
- भद्रया [३१]-- किवि., *भद्रतया
> (वावि.) यनि. ।
- भयामहे [४५]-- कि. (विभीमः)
< √भी 'भये', भ्वादि, उ३ ।
- भरन्तः [६७]-- भरन्-, वि., < √भृ
'धारणे', प्र३ ।
- भर्गः [६२]-- भर्गस्-, ना. न.
(प्रकाश), < √भृज् 'दीप्तौ' ।
- भुव्यम् [१९]-- भुव्य-, ना.
(*वर्तमान), < √भू 'सत्तायाम्'

भाजयत [२३]-- क्रि., <√भज्
'सेवने', णिच्, लोट् म३ । इसके
क्रि. के योग में 'तृस्य' कर्म में ष ।

भामः [१७९]-- भाम्- भा., पुं.
(क्रोध) <√भा 'दीप्तौ' ।

भुजम् [२११]-- भुज्-, भा. स्त्री.
(भोग), <√भुज्, द्वि१ ।

भूतकृतः [१५]-- भूत-कृत्-, वि.
(स्तोत्रकृत [ऋषि]), < भूत
(<√भू "स्तुतौ")+कृत्, उस.,
प्र३ ।

भूत्याम् [३१]-- भूति-, भा. (विभू-
ति), <√भू 'प्राप्तौ', स१ ।

भेषजम् [२६]-- भेषज्-, ना.
(औषध) ।

मक्षाः [१४३]-- मक्षा-, ना. स्त्री.
(मधुमक्षिका), प्र३ ।

मदन्तः [६७]-- सम्...मदत्-, वि.
<सम्+√मद्, 'हर्षे', ।

मदेम [५७]-- क्रि. (माद्येम), <
√मद् भ्वादि, विलि. उ३ ।

मधुश्चुतम् [३५]-- मधु-श्चुत्-,
वि. (ऊर्मि), < मधु + √श्चुत्
'क्षरणे', उस., द्वि१ ।

मध्या [४]-- क्रिवि. (मध्ये) ।

मनोजुषम् [८६]-- मनो-जू-, वि.

(वाचस्पति), < मनस् + √जू
'प्रेरणे', उस., द्वि१ ।

मन्तवः [७]-- मन्तु-, वि. (आदित्य),
< √मन् 'ज्ञाने' ।

मन्दिषीमहि [१७०]-- क्रि.,
<√मन्द 'हर्षे', आलि. उ३ ।

मयोभुवः [२२]-- मयो-भू-, वि.
(अप्), <मयस् (सुख) + √भू
'प्राप्तौ', प्र३ ।

महः [७७]-- महस्-, वि. (महान्
[अर्णस्]), <√मह् 'वृद्धौ' ।

महे [२२]-- मद्-, भा. (महत्त्व),
च१, विभक्ति-स्वर ।

मायौ [१२८]-- मायु-, ना. (ललकार).
<√मा 'शब्दे', स१ ।

मित्रमहः [५९]-- मित्र-महस्-, वि.
(हितकारी प्रकाश वाला [सूर्य]),
बस. सं१; महस्=प्रकाश ।

मिनीमसि [१६६]-- प्र...मिनी-
मसि, क्रि., <√मि 'हिंसायाम्'
क्यादि, लट् उ३ ।

मुक्षीय [७४]-- क्रि., < √मुच्
'मोचने', कर्मकर्त्तृ, आलि. उ१ ।

मुमुचानुः [१६४]-- मुमुचान्-, वि.
< √मुच्, 'मोचने', कानच् ।

- मृळाति[३४]—आ...मृळाति, कि., (यशस्वी [हम]), प्र३। कीर्ति वाचक
 <आ√मृड् (ळ), लोट् प्र१।
 मृत [२१०]— कि., < √मृ
 'प्राणत्यागे'; आ. लुङ् प्र१।
 मृथाः [१९७]— कि., < √मृ
 'प्राणत्यागे', आ. लुङ् म१।
 मृधः [४५]— मृध्-, ना. (शत्रु),
 < √मृध् 'हिंसायाम्', द्वि३।
 मो[६०]— नि (मा+उ)।
 यक्षम् [१५५]— यक्ष्-, ना.,
 < √यज् 'पूजायाम्'।
 यजत्राः[९]— यजत्र-, वि. (देव-)
 < √यज् 'पूजायाम्', अत्रच्, सं३
 स्वराभाव।
 यज्ञवाहसः[१६१]— यज्ञ-वाहस्-
 वि. (आदित्य), < यज्ञ + (√वह्
 'वहने') > वाहस्-, उस., सं३।
 यज्ञिया [१२]— वि. (पूज्या
 [मेघा]), < यज्ञ (पूजा)।
 यथास्थाम् [९१]— किवि, यथा-
 स्थामन्-, < यथा+स्थामन्,
 (=स्थान) अस. न. द्वि१।
 यन्तु [१]— आ...यन्तु, कि.
 < आ + √इ (गतौ) लोट् प्र३।
 यज्ञसः [१३८]— यज्ञस्-, वि.
- (यशस्वी [हम]), प्र३। कीर्ति वाचक
 यशस्- आयुदात है।
 यावती [११२]— यावती-, वि.,
 < यावत्- स्त्री. प्र२।
 युयोतन[१०]— कि., < √यु 'अमि-
 श्रणे', लोट् म३।
 युयोपिस [१६८]— कि., < √युप्
 'विलोपे', लिट् उ३।
 युयोम[७८]— कि., < √यु 'पृथग्-
 भावे', जुहोत्यादि, लोट् उ३,
 < *युयवाम।
 योः [२५]— योस्, अव्य. (सुख), ।
 रणाय[२२]— रण-, भा. (आनन्द,
 रञ्जन), < √रण् 'रञ्जने, रमणे',
 च१।
 रधम् [६०]— कि., < √रध्
 'हिंसायाम्', लुङ् उ१।
 रुन्त्यः [२९]— रुन्त्य-, वि. (वसन्त),
 < √रम् 'क्रीडायाम्', कृत्यार्थे
 त्यप्, प्र१।
 रन्धयन् [६०]— रन्धयत्-, <
 √रन्ध् 'हिंसायाम्', शतृ, प्र१।
 रपः [१९१]— रपस्-, ना (पाप),
 < √रप् 'निन्दायाम्', प्र१।
 रातिः [२]— राति-, ना., (दान),
 < √रा 'दाने', ।

रातिम् [६३]— राति- भा., < ✓रा [ला] 'आदाने', द्वि१ ।

रात्रि-रात्रिम् [६७]— रात्रि-, वीप्सार्थ में द्विरुक्ति (प्रतिरात्रि) ।

राष्ट्रे [२२३]— राष्ट्र-, ना. (क्षत्रिय), स१ ।

रिप्त्रम् [२८]— रिप्त्र-, ना. (मल), < ✓रिप् [लिप्] 'आवरणे', ।

रिषाम [६७, ६८]— क्रि., < ✓रिष् 'हिंसायाम्', लोट् उ३ ।

रीरधः [१६७]— क्रि., < ✓रध् 'हिंसायाम्' लुङ् म१ ।

रुद्राय [७१]— रुद्र-, वि. (अभि), < ✓रुध् 'रक्तवर्णे', च१ ।

रूपं-रूपम् [१४९]— रूपं-, ना. (पशु) प्रत्येक पशु को; वीप्सार्थ में द्विरुक्ति ।

रेक्णस्वती [१४]— वि., स्त्री. (स्वस्ति), < रेक्णस् ([धन] < ✓रिच् 'ऋद्धौ'), मनुष्य ।

लयः [१८२]— लय-, ना. (✓फल 'विशरणे' >), *फलमय- > (वावि.) यनि. ।

लोहम् [१८८]— लोह-, ना. (लोहित ताप्रा), < ✓रुध् 'रक्तवर्णे' ।

वंशिषीय [१४०]— क्रि., < ✓'वंश 'वृद्धौ', आलि. उ१ ।

वधीः [२१०]— क्रि., अवधीः < ✓वध् 'हिंसायाम्', लुङ् म१ ।

वनन्ति [१३५]— क्रि., < ✓वन् 'संभक्तौ', भ्वादि, लट् प्र३ ।

वनसा [५६]— वनस्-, भा. (स्पृहा), < ✓वन् 'याचने', तृ१ ।

वनस्पतयः [२१]— वनस्पति-, ना. (वृक्ष), < वनस् (प्ररोह)+पति, षस., प्र३ ।

वरिवः [१२०]— वरिवस्-, भा. < ✓वृ 'आवरणे, रक्षणे' ।

वरूथम् [२६]— वरूथ-, वि. (भेषज), < ✓वृ 'भद्रभावे, कल्याणे', तु. वर- ।

वरेण्यम् [६२]— वरेण्य-, वि. (भर्गस्), < ✓वृ > वर (भा. प्रसाद, स्वच्छता), एन्यन् प्र. ।

वर्तनिम् [५६]— वर्तनि-, ना. (भूमि [गोचरभूमि, मार्ग]), < ✓वृत् 'वर्तने', अनिच् प्र. ।

वर्धयाति [१०६]— क्रि., < ✓वृध् 'वृद्धौ', प्रेरणार्थक णिच्, लोट् प्र१ ।

वर्षिमा [१७९]— वर्षिमन्-, भा., पुं., < ✓वृष् 'विस्तारे', प्र१ ।

ववृमहे [३२]— क्रि., < √ वृ
 'भोजने', लिट् उ३ ।
वष्टु [७५]— क्रि., < √ वश्
 'इच्छायाम्', लोट् प्र१ ।
वसिष्ठः [१९८]— वसिष्ठ-, वि.
 (अत्युत्तम [अधिपा]), < वसु+
 इष्ठन् ।
वसुविदम् [५४]— वसु-विद्-, वि.
 (भग), < वसु+√विद् 'लाभे'
 उस., द्वि१ ।
वसोः [६८]— वसु-, वि. (प्रकाश-
 मान [अग्नि]), < √वस्
 'कान्तौ', ष१
वसोर्वसोः [७०]— वसु- ना.
 (धन), ष१, वीप्सार्थ में द्विरुक्ति
 [प्रत्येक धन का] ।
वसोष्पते [८३]— वसोः [११]-पति-
 ना., तस., ष. अलुक्, सं१ ।
वाजयन्तः [६३]— वाजयत्-,
 > (वाज [√वृद्धि] मा. >) नाधा
 √वाजय, शतृ ।
वाजसातौ [१२]— वाज-साति-,
 भा., वाज (शक्ति) + √सन्
 'प्राप्तौ' > साति-, वस., सं१ ।
वाजेभिः [७५]— वाज-, ना.,
 'वाय->(वावि.) यनि., तृ३ ।

वात [६८]—= *वाताद् > (वावि.)
 *वाता>यनि. (वैतु पपा. वातः) ।
वामम् [१४]— वाम-, ना. (इष्टार्थ),
 < √वा [= वृ] 'वरणे' ।
वार्याणि [७९]— वार्थ-, ना. (इष्ट,
 धनादि), < √वृ 'कामनायाम्' ।
वार्षिकी [२७]— वार्षिक-> °की-,
 वि. स्त्री. (अप्), < वर्षा +
 तत्रभवेऽर्थे प्र. ।
वितनु [८४]— क्रि., < वि+तन्,
 तनादि, लोट् म१ ।
विदत् [१२४]— क्रि., > √विद्
 [= √वृद्धि] 'छेदने' लुङ् प्र१ ।
विदथेषु [१५५]— विदथ-, ना.
 (विज्ञानसभा), < √विद्
 'ज्ञाने', सं३ ।
विदेयम् [१८]— क्रि., < √विद्
 'ज्ञाने', विलि. उ१ । तुदादि में,
 'विदेयम्' ऐसा शोध इष्ट है ।
विद्युते [३८]— विद्युत्-, वि. (प्रकाश-
 मान [रुद्र]), < वि + √द्युत्
 'दीप्तौ', च१ ।
विनेशत् [१२३]— क्रि., < वि+
 √नश् 'अदर्शने', लोट् प्र१ ।
विभातीः [१७]— वि-भात्->
 °ती-, वि. स्त्री. (उषस्), < वि +
 √मा 'दीप्तौ', शतृ., प्र३ ।

विराजति [७७]—क्रि. < वि+राज
'दीप्तौ' ।

विराधिषि [८५]— क्रि., < वि +
✓राध् 'वियोगे', लृट् उ१ ।

विरिष्टम् [८९]—वि-रिष्ट-, वि., <
वि + ✓रिष् 'हिंसायाम्' ।

विवस्वतः [५]—विवस्-वत्-, ना.
काल, मृत्यु) ✓मृध् 'हिंसायाम्'
> *मृध्म् > (वावि.)विवस् +
मतुप्, ष१ ।

विवृहामि [२०६]— क्रि., < वि+
✓वृह् 'हिंसायाम्', लट् उ१ ।

विश्वकर्माणम् [८६]— विश्व-
कर्मन्-, वि. (देव), < बस.,
द्वि१ ।

विश्वधायसः [१३०]— विश्व-
धायस्-, वि. (देव), < विश्व+
(✓धा 'धारणे' >) धायस्
भा., बस., प्र१ ।

विषूचीः [४६]— विश्वन्-, >
°षूची-, वि. स्त्री. (द्रुह), द्वि१ ।

विह्वेषु [१२१]— वि-ह्व-, ना.

(युद्ध), < वि+✓ह्वे > हु 'आह्वाने',
स३ ।

वृज्जने [१३]— वृज्जन्-, वा. विस्तृत-
भूमि), < ✓वृज्=वृज् 'गतौ', स१ ।

वृधे [१]— वृध्-, भा. (वृद्धि),
< ✓वृध् 'वृद्धौ', च१ ।

वृष्टिः [१८४]— वृष्टि-, ना.,
< ✓*वृष् 'प्ररोहे' + क्तिच् ।

व्यचः [१७]— व्यचस्-, वि. (विस्तृत
[अन्तरिक्ष]), < वि + ✓अच्
'व्याप्तौ', प्र१ ।

व्यवात् [२०३]— क्रि., < वि+
✓वा 'गतौ', लृट् प्र१ ।

व्यशमे [३]— क्रि. (प्राप्त करें), वि +
✓अश् 'व्याप्तौ', भ्वादि, बिलि.
व्यशमेहि पाठभेद सामवेद तथा
यजुर्वेद में उपलब्ध है ।

व्यहनवत् [७२]— क्रि., < वि +
✓अश् 'व्याप्तौ', स्वादि, लोट् प्र१ ।

व्याववृत्रत् [२१७]— क्रि., वि +
आ+✓वृत् 'वर्तने', लृट्, चट्, प्र१ ।

शशि [४५]— क्रि. (शक्नुहि),

<✓शक् 'सामर्थ्ये' [अन्तर्भावित णिजर्थ], अदादि, लोट् म१। शतहिमाः [५७]— शत-हिम-, वि. (वयम्), < शत + हिमा (वर्ष), बस. । शम् [१५]— अव्य. (सुखकारक) । शरुः [५]—शरु-, ना. (हिंसा), <✓शृ 'हिंसायाम्', प्र१ । शर्म [३०]— शर्मन्-, ना. न. (सुख), <✓शृ '*सुखे' । शशयः [७९]—शशयु-, वि. पुं. (स्तन), श्रवस् (पुष्टि) > * श्रव- स्मय > (वावि.) यनि-, प्र१ । शिक्षन्तः [१९१]— शिक्षव-, वि. पुं. (वयम्), < (✓शक् 'शक्तौ' सजन्त >) ✓ शिक्ष, शतृ । शिवा [७८]— शिवा-, वि. स्त्री. (सरस्वती), < (श्रेयस् > [वावि.] *शि (सुख), मत्वर्थे व । शुक्रम् [९१]— शुक्र-, वि. (चक्षुस्), < ✓शुच् 'दीप्तौ' । शुन्धयन्तु [२८]—क्रि., < ✓शुन्ध-	'शुद्धौ', णिच्. लोट् प्र३ । शुभस्पती [१३६]—शुभस्-पति-, वि. (अश्विन), शुभस् (< शुम्, ष१) + पति, सं२, स्वराभाव । शुभे [१५६] शुम्-, भा., व१ । शुभन्तु [१६४]—क्रि., < ✓शुम्भ- 'शोभायाम्', लोट् प्र३ । शुष्मिणः [३७]— शुष्मिन्-, वि. (बलप्रद [अन्न]), < शुष्म (< ✓शुष् '*बले'), मत्वर्थे इनिः । शेवधिः [२०१]— शेव-धि-, ना. (निधि) । शुष्टिम् [२०७]— शुष्टि-, ना. (लड़ी) < ✓*शुष् 'सन्ताने' । संरभ्य [१४९]—अव्य., < सम् + ✓रभ् 'बन्धन', त्यप् । संवित् [१८२]— सं-विद्-, भा. (संवेदन), < सम् + ✓विद् 'ज्ञाने', प्र१ । संवित्स्य [२०९] क्रि., < सम् + ✓विद् 'ज्ञाने', लोट् म१ । संविदाना [३१]— सं-विदाना-
---	---

- वि. स्त्री. (भूमि), <सम् + √विद् सनेम [५७]— कि. (सनुयाम),
[भिद्] 'संवन्धे', शानच्, प्र१।
संज्ञवन्तु [१४५]— सम्-ज्ञवन्तु,
कि., < सम् + √सु 'गतौ',
लोट् प्र३।
संज्ञावणाः [१४६]— सं-ज्ञाव-
णा-, वि. स्त्री. (गिर), < सम्
+ √सु 'स्तुतौ', सं३।
स [११७]— *सम् (=तम्) इति
शोधः (तु. 'सस्म' प्रभृतयः)।
सग्धिः [१८४]— स-ग्धि-, भा.
स्त्री. (सहभोज), < (समान) >
स + (√घस् 'भक्षणे' > घ् >) ग
क्तिन्।
सचन्त [५६]— कि., < √सच्
'समवाये, संप्राप्तौ', लङ् प्र३,
अट् क्त्वा अभाव।
सज्जोषाः [१२९]— सज्जोषा-, वि.
(परस्पर मिले हुए [विश्वे देव
अदिति]), < √ *सज्ज् 'सज्जे', प्र३।
सत्यराधः [५१]— सत्य-राधस्-,
वि. (भग), सं१।
सुदम्-इत् [१]— अव्य. (सदेव)।
प्रायः 'इत्' के साथ प्रयुक्त होता है
सनेम [५७]— कि. (सनुयाम),
< √सन् 'संभक्तौ', विलि, उ३।
संदूशः [७८]— सं-दूश-, भा.,
< सम् + √दृश्, पं१।
सुपीतिः [१८४]— सु-पीति-, भा.
(सहपान), < (समान) > स +
पीति (< √पा 'पाने')।
सप्त [६]— सप्तन्-, वि. (होतृ),
'सप्तभिः' तु३ लृक्।
सप्तहोता [१५७]— सप्त-होतृ-,
वि. (यज्ञ), < सप्तन्- + होतृ-, बस.।
सुप्तिः [२२३]— सुप्ति-, ना.
(अश्व) < √ *सप् 'गतौ, वगेच'।
सप्रथः [३०]— स-प्रथस्-, वि. न.
(शर्मन्)।
सर्वधातमम् [६४]— वि. (भोजन
[परिपालन]), < सर्व-धा (सर्वधार-
यितृ), तमप्, द्वि१।
सखेन [१५३]— सख-, भा., <
√सू 'प्रेरणे', तु१।
सहसा [६०]— सहस्-, भा.
(प्रचण्डता, प्रताप), < √सह, तु१।
सहौजः [८९]— सहौजस्-, क्विप्,
< सह + ओजस्, बस., न. द्वि१।
साम [१५८]— सामच्, ना., = सामानि

- प्र३ लुक् ।
साविषत् [१०२]— कि., <√सु
 'प्रसवे', लेट् प्र१ ।
सावीः [१५]—कि., <√सू 'प्रेरणे'
 लुङ् म१ ।
सीरम् [१८२]— सीर-, ना. न.,
 √कृष् > *कृवीर > (वावि.)
 यनि., प्र१ ।
सुगन्धिम् [७४]— सुगन्धि-, वि.
 (त्र्यम्बक), <*सुग (सुख) >
 सुगम् + धि (<√धा), द्वि१ ।
सुगा [६]—सु-ग-, वि. न. (सुपथ) ।
 <सु+√गम् 'गतौ', द्वि३ ।
सुजातता [५७]— सुजात-ता-, भा.
 (सुप्रकाश), सुजात+भावे तल् >,
 *त-तया [तृ१] > यनि. ।
सुत्रामाणम् [८]—सु-त्रामन्-, वि.
 (नौ), <सु+√त्रा 'त्राणे', मन्, गस
 द्वि१ ।
सुद्वज्रः [७९]—सुद्वज्र-, वि. (स्तन),
 √स्वद् [स्वाद्] > *स्वद्वज्र >
 (वावि.) यनि. । वेत्तु. पपा. सु-द्वज्र ।
सुपथा [६]—सुपथ-ना. (सुमार्ग),
 सुख- (वि.) + *पथ- (भा. [गमन])
 > बस. *सुख-पथ- > (वावि.)
 यनि., द्वि३ ।
सुप्रणीतिम् [८]—सु-प्रणीति-, वि.
 (नौ), <*सुप्र (<सु+√*प्रा,
 कर्त्रर्थे) + नीति, बस., द्वि१ ।
सुमृडीका [७८]— सु-मृडीका-,
 वि. (सरस्वती), <सु+मृडीक
 (सरस्वती), बस., प्र१ ।
सुमेधसः [८७]— सु-मेधस्-, वि.
 (हम), <सु+मेधस्, बस., प्र३ ।
सुवीराः [५७]—सु-वीर-, वि. (हम),
 <सु+वीर, बस., प्र३ ।
सुशर्माणम् [८]—सु-शर्मन्-, वि.
 (नौ), >सु+(√शृ *रक्षायाम् >)
 शर्मन्, गस., द्वि१ ।
सुशेवः [३३]—सु-शेव-, वि. (पितु-
 =अञ्ज), <सु+√शेव् = सेव्, प्र१ ।
सुषदाम् [१३४]— सु-षद्-, वि.
 (मृग), <सु+√सद् *बले', [तु.
 सत्त्वं], ष३ ।
सूनुतानाम् [७६]—सूनुता-, ना, <
 सूनु(सत्य)+ऋत (*शब्द), बस.,
 ष३ ।
सूरिः [२२९]—सूरि-, वि., पु. <
 √सू *प्रेरणे', प्र१ ।
सौमनसस्य [६९]—सौमनस-, भा.
 (प्रसाद), <सुमनस्, ष१ ।
स्तनयित्नुवे [३८]— स्तनयित्नु-,
 वि. (रुद्र), <√स्तन् 'गर्जने',
 णिच् इत्तुच्, च१ ।

- स्थविरस्य** [४८]— स्थविर-, वि. **हृत्तुवे** [१३७]— हृत्तु-, वि. (वध)
 (बलवान् [इन्द्र]), < ✓ *स्थु 'बले'
 [तु. तुष्टुवांसः] । < ✓ हन् 'हिंसायाम्', च १ ।
स्योना [३०]— स्योना-, वि. स्त्री.
 (सुखदा [पृथिवी]), *शिवन्त >
 न्ता > (वावि.) यनि., प्र १ । **हरन्तः** [७३]— हरत-, < ✓ ह
 [< मृ], शतृ, प्र ३ (= भरन्तः) ।
स्त्राय्येण [१४५]— स्त्राय्-, वि.
 (हविस्), < ✓ सु 'गतौ, वहने', तृ १ । **हरिमाणम्** [५९]— हरिमन्-, ना. पुं
 (पीलिया), < हरित् + इमनिच् द्वि १ ।
स्वः [३८]— स्वस्-, ना. (सुख),
 ✓ सुख् 'सुखे' > *सुखस् > (वावि.)
 यनि., द्वि १ । **हवनानि** [८६]— हवन-, ना. न.
 (स्तोत्र), < ✓ हु < हे 'आह्वाने',
 द्वि ३ । **हवामहे** [४६]— क्रि., < ✓ हु
 < हे 'आह्वाने=प्रसादने', भ्वादि,
 आ. लट् उ ३ ।
स्वरिशाम् [८]— स्वरिश्वा-, वि. स्त्री.
 (नौ), सु + अरित्र ([चप्]) <
 ✓ *अर् = ऋ 'गतौ', बस., द्वि १ । **हस्तिवर्चसम्** [१२९]— र्चस्-, वि.
 न. (हस्ति-वर्चस् के समान वर्चस् वाला
 [यशस्]), बस., समासान्त, प्र १ ।
स्वर्वति [१३]— स्वर-वत्-, वि.
 (वृजन), < स्वर (संचार, गति),
 मतुप्, स १ । **हासिपुः** [१६९]— क्रि., < ✓ हा
 'त्यागे', लुङ् प्र ३ ।
स्वस्तये [६]— स्वस्ति-, भा. (सुख,
 कल्याण), < स्वस् (< स्वर) + ति
 [वैतु. अन्ये < सु + अस्ति इति], च १ । **हासीत्** [२००]— क्रि., < ✓ हा
 'त्यागे', लुङ् प्र १ ।
स्त्रावेशा [१४]— स्वावेशा-, वि.
 स्त्री. (स्वस्ति), < सु + आवेश,
 बस., प्र १ । **हुवेम** [९]— क्रि., < ✓ हु < हे
 'आह्वाने', तुदादि, विलि. उ ३ ।
स्वाहा [१००]— अव्य. (बलि
 [भोजन] का संकेतक [तु. स्वधा]) । **हणानस्य** [१६७]— हणान्-, वि.,
 < ✓ हण् 'अनादरे', शानच्, ष १
स्विन्नः [१६४]— स्विग्न्-, वि.,
 < ✓ स्विद् 'स्वेदे', क, प्र १ । **हेतिः** [५]— हेति-, ना. (अस्त्र),
 < ✓ हि 'हिंसायाम्', ति, प्र १ ।
हयामसि [१९७]— क्रि. < ✓ हे
 'आह्वाने', लट् उ ३ ।

मन्त्रप्रतीक-सूची

अग्निश्च म आपश्च मे	४९	अश्ववतीर्गोमतीर्न उषासः	१६
अमं तपस्तप्यामहे	२३	अश्विना सारघेन मा	३५
अग्ने त्वं सु जागृहि	४३	असपन्नं नो अधरात्	३१
अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषाम्	३२	अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्रः	१३
अङ्गादङ्गाद् लोन्नो लोन्नः	५३	अस्मे मृत्यो अधिब्रूहि	५४
अद्या नो देव सवितः	१८	अहरहर्बलिमित्ते हरन्तो	१९
अनमित्रं नो अधरात्	१३	आकूर्तिं देवीं सुभगां पुरो दधे	२५
अनुहूतः पुनरेहि	५१	आकृत्या नो बृहस्पते	२६
अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि	११	आगादुगादयम्	५७
अपश्वादग्धाज्ञस्य भूयासम्	१९	आ त एतु मनः पुनः	५०
अपामीवामप विश्वामनाहुतिम्	५	आ ते प्राणं सुवामसि	५२
अपेहि मनसस्पते	४३	आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु	३
अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नो	१२	आपः पृणीत भेषजम्	९
अभयं मित्रादभयमित्राद्	१२	आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु	९
अभयं नः करत्यन्तरिक्षम्	१२	आपो हि ष्ठा मयोभुवस्	८
अयं जीवतु मामृत	५४	आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी	
अयं मे हस्तो भगवान्	५०	जायताम्	५८
अयं लोकः प्रियतमः	५१	आयाहि वनसा सह	१६
अयुतोऽहमयुतो म आत्मा	२९	आयुर्यते अतिहितं पराचैः	५१
अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते	५	आरभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिम्	५३
अश्मा च मे मृत्तिका च मे	४९	आहार्षे त्वाऽविर्द त्वा	५३

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन्	२८	क्षेत्रस्य पतिना वयम्	१०
इन्द्रं वयमनूराधं हवामहे	१३	क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिम्	११
इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा	१४	चोदयित्री सूनृतानाम्	२०
इमे जीवा विमृतेराववृत्रन्	५६	जीवतां ज्योतिरभ्येक्ष्यर्वाह्	५४
इहैव हवमायात म	३७	ज्येष्ठ्यं च मे आधिपत्यं च मे	४६
इहैवाभि वितनु	२२	तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात्	१७
उत देवा अवहितम्	५०	तत्सवितुर्वरेण्यम्	१७
उतेदानीं भगवन्तः स्याम	१५	तत् सवितुर्वृणीमहे	१८
उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते	४४	तस्मा अरं गमाम वः	८
उदगाद् अयमादित्यो	१७	श्र्यम्बकं यजामहे	२०
उद्यन्नद्य मित्रमहः	१७	त्वं नो मेधे प्रथमा	२४
उद् वय तमसस्परि	१६	देवस्य सवितुर्वयम्	१७
उप नः पितवाचर	१०	देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम्	३
उपहृतो वाचस्पतिर्	२२	दैवीः षड्वीरुरु नः कृणोत	३२
उभाभ्यां देव सवितः	३९	द्यौः शान्तिर् अन्तरिक्षं शान्तिः	८
उरं नो लोकमनु नेषि विद्वान्	१४	द्यौश्च म इदं पृथिवी च	२५
उर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः	३०	दुपदाद् इव मुमुचानः	४२
उषा अप स्वसुस्तमः	१६	द्वाविमौ वातौ वातः	५०
ऊर्क् च मे सूनृता च मे	४७	नमस्ते अस्तु विद्युते	११
ऋचं वाचं प्रपद्ये	२३	न्यग् वातोऽववाति	५०
ऋतं च मेऽमृतं च मे	४६	पयः पृथिव्यां, पय ओषधीषु	२८
ऋतस्यर्तेनादित्याः	४१	पर्यावर्ते दुष्पण्ण्यात्	४३
एधोऽस्येधिषीमहि	२९	पवमानः पुनातु मा	३९
ओजश्च मे सहश्च मे	४५	पावका नः सरस्वती	२०

पुनन्तु मा देवजनाः	३९	मा नो हेतिर्विवश्वतः	४
पुनरेहि वाचस्पतं	२२	मित्रश्च वरुणश्च	३३
पुनर्मैत्रिन्द्रियम्	२४	मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत	५६
प्र विशतं प्राणापानौ	५२	मेधां सायं मेधां प्रातर	२५
प्राणश्च मेऽपानश्च मे	४५	मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीम्	२४
प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः	१९	मेमं प्राणो हासीन्मो अपानः	५२
प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे	१४	य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसः	४
प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे	१४	यश्चिद्धि ते विशो यथा ।	४२
बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चात्	३१	यज्जाप्रतो दूरमुदैति देवम्	३९
भग एव भगवो अस्तु देवस्य	१५	यत इन्द्र भयामहे	१३
भग प्रणेतद् भग सत्यराधः	१५	यतो यतः समीहसे	१२
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः	३	यत् किञ्चेदं वरुण दैव्ये जने	४२
भद्रं वै वरं वृणते	४४	यत्ते पवित्रमर्चिषि	३८
भूमे मातर्निर्घेहि मा	१०	यत्ते वचो जातवेदः	३४
मधु जनिषीय	३६	यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्चि	४०
मधुमतीरौषधीर्वाय आपः	११	यथा मक्षा इदं मधु	३७
मनसः काममाकूतिम्	२६	यथा मधु मधुकृतः	३६
मम देवा विहवे सन्तु सर्वे	३१	यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति	५६
मुमाम्ने वचो विहवेष्वास्तु	३१	यथेन्द्रो यावापृथिव्योर	३५
मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्	२९	यदग्ने तपसा तपः	२३
मयि वचो अथो यशः	३५	यदश्नासि यत्पिबसि	५५
महो अर्णः सरस्वती	३०	यदस्मृति चकृम किञ्चिदग्ने	४२
मह्यं यजन्तु मम यानि हव्या	२६	यदाशसा निःशसाभिशसा	४४
मा नो वधाय हृत्नवे	४२	यदाशसा वदतो मे विचुक्षुमे	२१
मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये	४३	यदि जाग्रद्यदि स्वपन्	४१

यद् गिरिषु पर्वतेषु	३७	यो वः शिवतमो रसस्	८
येद्वा देवहेडनम्	४१	रथे अक्षेष्टृषभस्य वाजे	३३
यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस	२३	रयिश्च मे रायश्च मे	४८
यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि	३५	राजन्ये दुन्दुभावायतायाम्	३३
यद् विद्वांसो यद् अविद्वांसः	४१	रात्रिं रात्रिमप्रयातं भरन्तः	१८
यन्ता च मे धर्ता च मे	४७	रूपं रूपं वयो-वयः	३८
यं देवासोऽवथ वाजसातौ	५	वर्म मे द्यावापृथिवी	३०
यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य	३०	वसन्त इन्नु रन्त्यः	९
यशा इन्द्रो यशा अग्निर	३६	वसु च मे वसतिश्च मे	४९
यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर	२१	वाङ् म आसन्नसोः प्राणस्	३०
यस्मिन्नुचः साम यजूंषि		वाचस्पतिं विश्वकर्माणमृतये	२२
यस्मिन्	४०	वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नः	२७
या ते वसोर्वात इषुः	१८	वाजश्च मे प्रसवश्च मे	४७
याममृषयो भूतकृतः	२५	वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीम्	२६
या मेधामृभवो विदुर	२४	वाजो नः सप्त प्रदिशश्	२७
यावच्चतस्रः प्रदिशश्	३४	वाजो नो अथ प्रसुवाति दानम्	२७
यावती द्यावापृथिवी	२९	वातात्ते प्राणमविदम्	५४
या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये	३२	वित्तं च मे वेद्यं च मे	४८
ये त्रिषप्ताः परियन्ति	२१	विश्वानि देव सवितर्	१८
येन कर्माण्यपसो मनीषिणः	३९	विश्वे अथ मरुतो विश्वे ऊती	२७
ये नदीनां संस्रवन्ति	३८	विश्वे यजत्रा अधिवोचंतोतये	५
येन हस्ती वर्चसा संबभूव	३४	व्यवात् ते ज्योतिरभूद्	५२
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्	४०	व्रीहयश्च मे यवाश्च मे	४८
येभ्यो होत्रा प्रथमामायेजे मनुः	४	शं च मे मयश्च मे	४७
ये सर्पिषः संस्रवन्ति	३८	शतं जीव शरदो वर्धमानः	५३

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवाः	११	समध्वरायोषसो नमन्त	१५
शं ते सूर्य आ तपतु	५५	सं मा मे वर्चसा सृज	१६
शं न आपो धन्वन्त्याः	९	सं मा सृजामि षयसा	
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदैतु	६	पृथिव्याः	२८
शं नो देवः सविता त्रायमाणः	७	सरस्वतीं देव्यन्तो हवन्ते	२१
शं नो देवीरभिष्टये	८	सर्वो वै तत्र जीवति	५६
शं नो मित्रः शं वरुणः	६	सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः	१९
शं नो वातः पवताम्	७	सिंहे व्याघ्रे उत याः पृथक्कौ	३२
शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय	५५	सुप्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसम्	४
शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी	७	सुषारथिरश्वानिव मन्मनुष्यान्	४०
शान्तानि धूर्वरूपाणि	७	सूरिरसि बर्चोषा	५७
शिवा नः शंसमा भव	२०	सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणः	२८
शिवास्ते सन्त्वोषधयः	५५	स्योना पृथिवी भव	९
शुक्रोऽसि आजोऽसि	५७	स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु	६
सं संस्रवन्तु सिन्धवः	३७	स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा	६
संक्रामतां मा जहीतां शरीरम्	५१	स्वादो पितो मधो पितो	१०
सत्यं च मे श्रद्धा च मे	४६	हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशः	३३
सभ्यः सभां मे पाहि	१९	हस्ती-शृगाणां सुबद्धाम्	३४

